भारतीय दर्शन तथा आधुनिक विज्ञान

द्वितीय खण्ड

(ध्वनि एवं श्रवण-विज्ञान)

डॉ. सुद्युम्न आचार्य

भारतीय दर्शन तथा आधुनिक विज्ञान

द्वितीय खण्ड

(ध्वनि एवं श्रवण-विज्ञान)

लेखक

डा० सुद्युम्न आचार्य

व्याकरणाचार्य, M.A. (अष्ट-स्वर्णपदकविजेता) D.Phil
रीडर-स्नातकोत्तर संस्कृत अध्ययन तथा शोध विभाग
श्री मु० म० टाउन पोस्ट ग्रेजुएट कालेज,
जनपद-बलिया (उ०प्र०)-२७७००१

प्रकाशक: गृहसंस्थान
वेद वाणी वितानम्
प्राच्य विद्या शोध संस्थानम्
रघुराजनगर, कोलगवाँ
सतना (म०प्र०)–४८५००१

मूल्य ३०/– रू० मात्र
प्रथम संस्करण
मुद्रित–७५० प्रतियाँ

लेजर टाइप सेटिंग
रवि कम्प्यूटर्स
टाउन कालेज चौराहा,
बलिया (उ०प्र०)

मुद्रण
तारा प्रिंटिंग वर्क्स
वाराणसी (उ०प्र०)
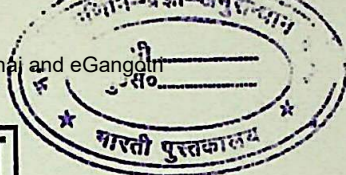
प्राक्कथन

भारतीय दर्शन तथा भौतिक विज्ञान के द्वितीय खण्ड के अन्तर्गत ध्वनि तथा श्रवण-विज्ञान की विवेचना प्रस्तुत है। दर्शन-शास्त्र में हजारों वर्षों के विचार-विमर्श के बीच ध्वनि के विविध पक्षों पर इतने अधिक मत-मतान्तर विकसित हुए हैं कि सबका उल्लेख सम्भव नहीं था। ध्वनि के अलग-२ घटकों पर भी अलग-२ शास्त्रों में विस्तृत विचार-विमर्श हुआ है। जैसे अक्षर-विज्ञान पर शिक्षा-शास्त्र में, शब्द-विज्ञान पर व्याकरण-शास्त्र में तथा वाक्य-विज्ञान पर मीमांसा-शास्त्र आदि में बहुमूल्य निरूपण उपलब्ध है। पर इस छोटे से कलेवर में इन सबको स्थान देना सम्भव नहीं था। अतः इस खण्ड में मात्र ध्वनि-विषय के केवल कुछ प्रमुख सम्मानित मतों पर ध्यान केन्द्रित करते हुए सन्तोष करना पड़ा है।

आधुनिक विज्ञान में भी प्रस्तुत विषय पर अत्यन्त सूक्ष्मता से विचार के पश्चात् अनेक सुनिश्चित सिद्धान्त स्थापित किये जा चुके हैं तथा इनके आधार पर अनेक उपयोगी उपकरण भी विकसित हो चुके हैं। इस नवीन पृष्ठभमि पर दर्शन-सिद्धान्तों को पुनः मूल्यवत्ता प्रदान करने का प्रयास उपयोगी हो सकता है। अतः दर्शन में 'ध्वनि' की लम्बी यात्रा तथा इसके विविध प्रमुख पड़ावों के अतिरोचक विवरण के पश्चात् आधुनिक विज्ञान के आलोक में इसके निरूपण का उपक्रम किया गया है।

सम्माननीय आचार्य स्वतन्त्रदेव जी महाराज, महर्षि सदाफल देव आश्रम, इलाहाबाद मेरे इन खोजपूर्ण कार्यों के प्रति गहरी रुचि रखते हुए मुझे सदा प्रोत्साहित करते हैं। अतः मैं उनके प्रति हार्दिक धन्यवाद प्रकट करता हूँ।

पुस्तक की शुद्धि पर पूरा ध्यान रखा गया है। फिर भी मानव-सुलभ दोष-वश यदि कहीं अशुद्धि हो, तो मै उसके लिये क्षमा-प्रार्थी हूँ।

-लेखक

विषय-सूची

द्वितीय खण्ड

ध्वनि एवं श्रवण-विज्ञान

इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिः, आसंसारं न दीप्यते।।

—काव्यादर्श १.४

यह संमूचा तीनौं लोक घने अँधेरे में डूबा रहता, अगर 'शब्द' नामक ज्योति पूरी दुनियाँ में प्रदीप्त न रहती !!

१. दुनियाँ की दूसरी सबसे बड़ी ज्योति!

बृहदारण्यक उपनिषद् में एक स्थान पर राजा जनक ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि यह मनुष्य अपने कार्य–कलाप के लिये किस ज्योति को रखता है–

किंज्योतिरयं पुरुषः (बृ०उ०.३.४.३.२.)

इसके उत्तर में याज्ञवल्क्य ने कहा कि सम्राट् ! यह सूर्य की ज्योति ही है। इस के सहारे ही मनुष्य अवस्थिति प्राप्त करता है। अपने विभिन्न कार्यों के लिये दूर–दूर तक जाता है तथा वहाँ से लौट भी आता है–

आदित्यज्योतिः सम्राडिति होवाच। आदित्येनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते, कर्म कुरुते, विपर्येति। –(बृ०उ०.३.४.३.२)

पर इस पर भी प्रश्न है कि सूर्य के डूब जाने पर यह मनुष्य किसका सहारा लेता है। अमावास्या में चन्द्रमा के भी उदित न होने पर घनी काली रात में, अपने पास कोई अग्निं या प्रदीप आदि के न रहने की स्थिति में यह मनुष्य किस ज्योति से संचालित होता है। इसके उत्तर में कहा है कि इस दशा में तो वाणी ही सबसे बड़ी ज्योति है। इसके सहारे मनुष्य अपना सब काम कर सकता है–

वागेवास्य ज्योतिर्भवति। वाचैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते, पल्ययते। कर्म कुरुते, विपर्येति। –(बृ०उ०.३.४.३.५)

यहाँ प्रकाश के समान संकेतक होने के कारण वाणी को भी ज्योति कहा गया है। यह संकेतक प्रकाश से भी अधिक व्यापक है। प्रकाश सूरज, चाँद इत्यादि के सहारे रहता है। पर यह ध्वनि नामक संकेतक तो प्रकाश रहने पर भी तथा अन्धाघुप्प अंधेरे में भी हमारे हाथ में रहता है तथा ताली बजाते ही संकेत देने की क्षमता रखता है। पाणिनि ने ऐसे अंधेरे रास्तों के लिये एक अलग ही नाम दिया है, जहाँ हाथ की ताली बजाकर काम चलाया जाता हो[1]। संस्कृत में अंधेरे के लिये एक रोचक शब्द है– 'ध्वान्त'। यह मूलतः उसी 'ध्वन्' धातु या root से विकसित है, जिससे ध्वनि शब्द निर्मित हुआ है। इस धातु की एकता से यह संकेत मिलता है कि अंधेरे में ध्वनि का ही साथ होता है। प्रकाश रूपी ज्योति के न रहने पर दूसरी सबसे बड़ी ज्योति का साथ स्वाभाविक ही है!!

---

१. पाणयो ध्मायन्ते यत्र ते पाणिन्धमाः पन्थानः। 'उग्रम्पश्येरन्धमपाणिन्धमाश्च'।
– अष्टाध्यायी सूत्र ३.२.३७

इस विश्व में मानव के उद्‌भव काल से प्रकाश के पश्चात् ध्वनि नामक संकेतक ने ही इसे सर्वाधिक प्रभावित किया है। इससे वह भय, विषाद, आश्चर्य, प्रसन्नता आदि सब कुछ प्राप्त करता रहा है। जंगल में सिंह–गर्जन तथा वर्षा में मेघ–गर्जन भय के विषय रहे हैं। महावेगशाली तूफान की आवाज से भी सभी मनुष्यों को वैसा ही डर लगता है, जैसा कि बिजली की चमक तथा बादल के गरजने से लगता है[1]। इसके लिये मान्यताएँ विकसित हुईं कि इन्द्र अपने हाथ में भयंकर वज्र रखता है। इसीलिये वह 'वज्री' है। इसका निर्घोष ही मेघ की आवाज है। कभी वह सात रंगों की आभा बिखेरता है। यही इसका धनुष है। इसीलिये इसे इन्द्र–धनुष कहते हैं। इसकी भयानक टंकार से यह निर्घोष उत्पन्न होता है।

प्रकृति की अन्य अनेक ध्वनियाँ मनुष्य में सुख एवं आनन्द का संचार करती रही हैं। पत्तों की सरसराहट, समीर की सनसनाहट तथा नदियों का नद नद या कल् कल् – ये सभी आवाजें मनुष्य के प्रत्येक तार को झंकृत करने का उपाय ही तो रही हैं। अत एव पहाड़ों में बहने वाले पानी के गरजने की आवाज के द्वारा यह जलधारा सही अर्थों में 'नदी' बन गई[2] तथा तालाब के पानी के उछलने की आवाज आह्लाद का पर्याय बन गई[3]!!

मनुष्य द्वारा पशु, पक्षियों को पालतू बनाने के पश्चात् इनकी आवाजें भी मनुष्य के सामान्य जीवन का अंग बन गईं। मुर्गे की आवाज प्रातःकाल की सूचना देने लगी। पाणिनि जैसे विद्वानों की मनीषा इसमें ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत मात्राओं को खोजने लगी! इसी प्रकार गायों के रम्भाने की आवाज बछड़ों को दूध पिलाने के लिये बुलाने के समय की पहचान देने लगी।

बाद में चलकर पशु–पक्षियों की ये आवाजें अलग–२ विशिष्ट कार्यों की सूचना देने के लिये प्रयुक्त होने लगीं। इस प्रकार प्रातःकाल कौए की आवाज विरहिणी, एकवेणीधरा, प्रोषितपतिका के लिये प्रिय के आगमन का शुभ संकेत बनी तो कोयल की कूक 'पुष्पधन्वा' के बाणों से पीड़ित युवाओं के लिये वसन्त की

---

१. भयन्ते विश्वा भुवना मरुद्भ्यो राजान इव त्वेषसन्दृशो नरः। – ऋग्वेद १.८५.८
२. निरुक्तकार यास्क ने कहा है कि नदी के गरजने की आवाज के कारण ही इसका यह नाम पड़ा है– नद्यः कस्मान्नदना इमा भवन्ति शब्दवत्यः। – निरुक्त २.२४.
३. प्रसन्नता अर्थ में ह्लाद् धातु का तथा 'प्रह्लत्तिः' आदि में ह्लद् का प्रयोग भी होता है। तालाब अर्थ वाला 'ह्रद' शब्द इसी धातु से निष्पन्न है। क्योंकि संस्कृत में रेफ तथा लकार में अभेद होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रसन्नताप्रद होने के कारण ही इसका यह नाम पड़ा है।

पहचान बनी। ऋग्वेद में इस तरह की बढ़िया सूचना प्रदान करने वाले मंगलकारी शकुन या शकुन्त पक्षियों के घर पर आने की चाहना प्रकट की गई है[1]। इसीलिये मूलतः पक्षी अर्थ वाला 'शकुन' शब्द तथा इससे विकसित 'सगुन' शब्द भी आगे चलकर शुभ–सूचना या सौभाग्य आदि अर्थों में प्रयुक्त होने लगा।

मनुष्य ने स्वयं भी अनेक प्रकार की ध्वनियों को उत्पन्न करके अपने शोक और प्रसाद के भावों को प्रकट करने का उपक्रम किया। प्रारम्भ से ही अनेक प्रकार के वाद्य मानव के इन भावों की सबसे बढ़िया अभिव्यक्ति बन सके हैं। इन वाद्यों की आवाज प्राकृतिक या मानवनिर्मित आवाज के अनुकरण पर निर्मित हुई। इस प्रकार निर्झर अर्थात् सोता की आवाज पर झर्झर बना[2] तथा गगरा या घड़े की आवाज पर गर्गर नामक वाद्य विकसित हुआ[3]। आज कौन जानता है कि इस प्रकार के वाद्यों के बीच मनुष्य के कितने शोक और प्रसाद के स्वर समीकृत हुए हैं!!

पर इस ध्वनि के इतिहास में क्रान्ति तब आई, जब मनुष्य के मुख से निकले अक्षर तथा कुछ निश्चित आनुपूर्वी वाले अक्षर–समूह किसी विशेष पदार्थ का प्रतीक बनने लगे। यों तो पशु–पक्षियों की आवाजें भी प्रतीक होती हैं, जैसा कि ऊपर दिखाया गया है। पर स्पष्ट तथा सुनिश्चित प्रतीकों की संरचना मानव–ध्वनियों द्वारा ही सम्भव हो पाई है। अतः तब इन आवाजों के अनुकरण पर निर्मित मानव–ध्वनियों ने भाषा का रूप ले लिया। इस प्रकार लाखों वर्षों तक कौए ने जो काँ–काँ आवाज की, वह ध्वनि ही थी। पर मनुष्य ने जब इस आवाज के अनुकरण पर इसे 'काक' नाम दिया, तब यह भाषा बन गई! आज से पौने तीन हजार साल पहले निरुक्तकार यास्क ने भी इस कौऐ की आवाज के अनुकरण पर ही 'काक' शब्द को निर्मित माना है[4]। इस प्रकार कोयल की कू कू आवाज ध्वनि ही रह गई, पर इसके अनुकरण पर संस्कृत में कोकिल तथा इंग्लिश में Cuckoo जैसी आवाज भाषा का अंग बन गई। आधुनिक भाषा विज्ञान में भाषा की परिभाषा में यह बताया जाता है कि वह प्रतीकात्मक ध्वनि जो मानव समाज के द्वारा

---

१. अवक्रन्द दक्षिणतो गृहाणां सुमंगलो भद्रवादी शकुन्ते। — ऋग्वेद २.४२.३
२. पाणिनि ने झर्झर बजाने वाले को झार्झरिक कहा है— मड्डुक–झर्झरादणन्यतरस्याम्। — अष्टाध्यायी ४.४.५६
३. अव स्वराति गर्गरो गोधा परि सनिष्णवत्। — ऋग्वेद ८.६९.९
४. काक इति शब्दानुकृतिः। — निरुक्त ३.१८.४

परस्पर व्यवहार के लिये प्रयुक्त होती हो, वह 'भाषा' है[1]।

हम नहीं जानते कि ध्वनि से भाषा बनने का इतिहास कितना पुराना है तथा इसका विकास किस प्रकार हुआ। हम विश्व के प्राचीनतम इतिहास को भाषा के द्वारा जान पाते हैं। पर खुद भाषा के इतिहास को कैसे जानें? उपनिषद् के एक भावपूर्ण श्लोक में कहा है कि ब्रह्म वह है जो वाणी द्वारा नहीं कहा जा सकता, अपितु स्वयं वाणी ही जिसके द्वारा कुछ कह पाती है[2]। इसी प्रकार यहाँ भी कहना होगा कि भाषा वह है जो स्वयं वाणी द्वारा नहीं कही जा सकती, पर जो विश्व की घटना के लिये वाणी प्रदान करती है। सचमुच जो भाषा विश्व की हर गतिविधि को प्रकट कर सकती है, वह स्वयं अपने उद्भव को किस प्रकार प्रकाशित करे! इसीलिये अभी भी भाषा की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों में एक-मत नहीं है।

स्थिति कुछ भी हो, पर यह तय है कि मानव के यात्रा-पथ पर भाषा नामक संकेतक की प्राप्ति एक बहुत बड़ी उपलब्धि रही है। यह जहाँ एक ओर मानव के अमूर्त विचारों तथा सन्देशों को वर्तमान में एक दूसरे तक पहुँचाने का उपाय बनी तो दूसरी ओर इन्हें भविष्य के लिये भावी पीढ़ियों तक पहुँचाने का माध्यम भी बनी। इस प्रकार मानव की उन्नति का बहुत बड़ा श्रेय भाषा को ही है। आज विश्व में मानवेतर प्राणियों द्वारा उन्नति न कर पाने का कारण उनका हीन मस्तिष्क तो है ही, साथ ही यह भी है कि वे अपने जीवन भर के अनुभव को अन्य पीढ़ी में सम्प्रेषित नहीं कर सकते। भाषा नामक संकेतक के अभाव में हर प्राणी की हर पीढ़ी अपनी यात्रा वहीं से शुरू करती है, जहाँ से लाखों वर्ष पूर्व के प्राणी ने प्रारम्भ की थी। पर मनुष्य इस संकेतक की बदौलत लाखों वर्षों में अर्जित ज्ञान को कुछ ही वर्षों में अपने में समाहित करके उन्नति के नए आयाम विकसित करने लगता है। इस दृष्टि से तो यह ध्वनि सचमुच परम ज्योति है, अथवा महावैयाकरण भर्तृहरि के शब्दों में 'पुण्यतम ज्योति' है[3]। उनके अनुसार इस वाणी के न रहने पर तो प्रकाश के भी प्रकाशकत्व का कोई अर्थ नहीं। क्योंकि यह वर्तमान तथा प्राचीन- सभी यादों को संजो कर प्रकाशित रखने वाली है[4]।

---

1. A language is a system of arbitrary vocal symbols by means of which a social group co-operates. - Outlines of linguistic analysis, Page 5
२. यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते — केनोपनिषद् १.४
३. यत्तत् पुण्यतमं ज्योतिस्तस्य मार्गोऽयमाञ्जसः — वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड,श्लोक १२
४. न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी — वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड,श्लोक १२४

वाणी की इस ज्योतिष्कता को अतिप्राचीन काल से भली प्रकार समझ लिया गया था। बाइबिल की एक कहानी में लिखा है कि एक बार मनुष्यों ने ऐसी ऊँची मीनार बनाना प्रारम्भ किया जिसका शिखर स्वर्ग से छूता हो। यहोवा ने देखा कि वे इस कार्य में एक होकर जुटे हैं तथा उन सबकी भाषा भी एक ही है। तब उसने समझ लिया कि उनके इस संकल्पित उद्योग में कुछ भी असम्भावित नहीं है। अतः उसने तय किया कि इनकी भाषा में गड़बड़ी डाल दें, ताकि वे इस उद्देश्य को पूरा न कर सकें। तब यहोवा ने उनकी भाषा अलग–२ कर दी। इस पर उन मनुष्यों ने उस महान् कार्य का परित्याग कर दिया[1]। इस कहानी के द्वारा यह माना गया कि भाषा में एकता के द्वारा परस्पर संवाद स्थापित होने की दशा में बड़े से बड़े कार्य सम्पन्न किये जा सकते हैं।

भारत में इस ध्वनि अथवा भाषा को जितना महत्त्व दिया गया, उतना विश्व में अन्यत्र कहीं नहीं प्राप्त होता। उपनिषदों में सृष्टि का जो सबसे पहला विभाजन उपलब्ध होता है, उसमें 'नाम' के अन्तर्गत केवल ध्वनि या भाषा को अलग किया गया तथा 'रूप' के अन्तर्गत समाहित की गई पूरी दुनियाँ[2]!! इसी प्रकार दर्शन में भी विश्व की सभी वस्तुओं को 'पद' से भिन्न 'पदार्थ' में समाविष्ट किया। विश्व के इतिहास में यह देखकर अचरज होता है कि जब हजारों वर्षों तक विश्व के लोग इस 'रूप' या 'पदार्थ' की सुरक्षा में जुटे रहे, तब भारतीय मनीषा केवल 'नाम' या पद के संजोने में ही अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाती रही। विश्व के प्रायः सभी महान् 'आश्चर्य' राजाओं की मम्मी (mummy) के रूप में उनका चेहरा सुरक्षित रखने अथवा विभिन्न मूर्तियों के रूप में उनकी यादगारी बनाए रखने के लिये उत्कृष्टतम प्रयत्न के उदाहरण हैं। मिस्र का प्रसिद्ध पिरामिड आज से कम से कम ५ हजार वर्ष पूर्व बादशाह चिआप्स द्वारा उनकी कब्र तथा चेहरा को सुरक्षित रखने के लिये बनवाया गया था। इसे पूरा करने के लिये एक एक लाख लोगों की तीन टोलियाँ लगाई गई थीं। पिरामिड के एक शिलालेख के अनुसार प्रतिदिन इतने मजदूरों के लिये केवल रोटी और प्याज पर एक हजार छः सौ दीरम (चाँदी का सिक्का) खर्च

1. And they said, Go to, let us build us a city and a tower, whose top may reach unto heaven. (11.4) And the lord said, Behold, the people is one, and they have all one language; and this they begin to do: and now nothing will be restrained from them, which they have imagined to do (11.6). Go to, let us go down, and there confound their language, that they may not understand one another's speech (11.7). So the lord scattered them abroad from thence upon the face of all the earth: and they left off to build the city. - Holy Bible, Genesis 11.8

२. अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि – छान्दोग्य ६.३.२

हो जाता था। इस प्रकार ४८१ फुट ऊँचा विशाल पिरामिड बन कर तैयार हुआ था। एक अनुमान के अनुसार आज इतने बड़े पिरामिड को बनवाने के लिये आधुनिक मशीनों के बावजूद एक हजार लोगों को पूरे सौ साल तक काम करना पड़ेगा!!

इसी प्रकार ओलम्पिया में जियस की मूर्ति, टर्की में राजा मोसोलस की समाधि, रोड्स में अपोलो (Apollo) या सूर्यदेव की विशाल मूर्ति इत्यादि सभी 'आश्चर्य' मनुष्यों के चेहरे की सुरक्षा के लिये किये गए प्रयत्न हैं।

पर भारत में क्या हुआ? यह देख कर अचरज होता है कि भारत में सम्राट् अशोक से पूर्व के अभिलेख या स्थायी मूर्ति आदि सामान्यतः उपलब्ध नहीं होते। केवल साहित्य में इनके छिटफुट संकेत प्राप्त होते हैं[1]। इसका कारण केवल यही कि भारत में 'रूप' या पदार्थ नहीं, अपितु 'नाम' या पद की सुरक्षा को ही उचित तथा सार्थक माना गया। यहाँ ऋषि, मुनियों ने भली प्रकार जाना कि अनन्त प्रयत्न करने पर भी भौतिक वस्तुओं तथा मनुष्य शरीर को स्थिर नहीं रखा जा सकता। जो भी कुछ स्थिर रह सकता है, वह है उसके विचार, उसके चिन्तन, जिससे आगे के लोगों को प्रकाश तथा मार्गदर्शन प्राप्त हो सकता है। इसलिये यहाँ के लोगों ने इन अमूर्त विचारों की एक बढ़िया वाहिका तैयार की —ज्योतिर्मयी वाणी ! उसे सजाया, सँवारा और पूरे प्रयत्न से उसकी सुरक्षा में जुट गए। उन्होंने जाना कि जैसे 'मनोरथ' शब्द के अनुसार मन् का रथ इच्छा है, वैसे ही विचारों का रथ वाणी है तथा वाङ्मय वाणी का बना हुआ वह विशाल सौध अथवा महल है, जिसमें सम्पूर्ण चिन्तन भाषा का आकार धारण करके स्थिर स्थान पाता है। आज से पौने तीन हजार वर्ष पूर्व निरुक्तकार यास्क ने इस प्रकार के अनूठे महल के बहुमूल्य खजाने को 'शेवधि' बताया था तथा इसकी हर कीमत पर सुरक्षा के प्रयत्न करने को कहा था[2]। भारत में इस अद्भुत 'वाणी—महल' की सुरक्षा केवल बोल कर तथा सुन कर की गई। इसलिये इसे श्रुति नाम दिया गया।

---

१. जीविकार्थे चापण्ये—अष्टाध्यायी सूत्र ५.३.९९ में महावैय्याकरण पाणिनि ने संकेत दिया है कि देवताओं की छोटी२ मूर्तियों की पूजा अथवा उनकी बिक्री से जीविका कमाई जाती थी। इस सूत्र में पतञ्जलि ने सूचना दी है कि उनके समय सोने के लोभी मौर्य राजाओं के द्वारा बड़े२ उत्सवों तथा मेलों में इन मूर्तियों की पूजा तथा बिक्री दोनों कराई जाती है। द्रष्टव्य— 'मौर्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्चाः प्रकल्पिताः' उक्त सूत्र पर महाभाष्य।

२. विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि— निरुक्त। अर्थात् एक बार विद्या ब्राह्मणों के पास पहुँची तथा उनसे कहा कि मेरी सुरक्षा करो, मैं तुम्हारा ख़जाना हूँ।

इस प्रकार भारत में इस 'नाम' की जैसी सुरक्षा हुई, वैसी शेष विश्व में कहीं नहीं देखी गई। सचमुच, इस देश के इतिहास का महान् 'आश्चर्य' कोई पिरामिड नहीं, कोई झूलते हुए बगीचे नहीं, अपितु यह कि यहाँ के ऋषियों ने बिना कागज, कलम आदि आधुनिक उपकरणों की सहायता के विश्व के पुस्तकालय को प्राचीनतम तथा विशालतम साहित्य प्रदान किया है!! विद्वानों के बीच अब यह निर्विवाद है कि विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद है। हमारे पास इसका कोई हिसाब नहीं कि इसकी सुरक्षा के बीच सिन्धु तथा सरस्वती का कितना पानी बहा है। पर इसमें सन्देह नहीं कि इसमें करोड़ों लोगों की लाखों पीढ़ियाँ बीती हैं। प्रसिद्ध विद्वान् मैक्समूलर ने कहा है कि १०,५८० मंत्रों का यह विशाल वेद केवल स्मरण के आधार पर सुरक्षित रहा है। इस विषय में यदि किसी को जरा सा भी सन्देह हो तो वे आज भी भारत में रहने वाले श्रोत्रिय वेदपाठियों से मिल कर दूर कर सकते हैं। अगर आज ऋग्वेद के सभी ग्रन्थ या हस्तलेख विलुप्त हो जावें तो भी इन वेदपाठियों के द्वारा समूचा वेद जैसा का तैसा प्राप्त किया जा सकता है[1]।

भारत के अन्य सम्प्रदायों में भी वाणी के प्रति इस प्रकार का अद्भुत लगाव देखने को मिलता है। क्योंकि उन्होंने वाणी से अपार ऊर्जा प्राप्त करना तथा उससे लोगों को सम्मोहित करने की कला सीख ली थी। गौतम बुद्ध के निर्वाण प्राप्त करते समय उनके प्रिय शिष्य आनन्द ने विलाप करते हुए पूछा था कि अब हमारा गुरु कौन होगा। गौतम बुद्ध ने अपनी मूर्ति के निर्माण का प्रतिषेध किया तथा आदेश दिया कि अब हमारे उपदेश ही तुम्हारे गुरु होंगे। तब उनके शिष्यों ने अनेक संगीति (सभा) करके इन उपदेशों का पिटक (पिटारा) बनाया तथा इन्हें देश–विदेश में पहुँचाया। कहना न होगा कि जब चीन के लोग ईंट, पत्थरों से विश्व की सबसे बड़ी १५०० मील लम्बी विशाल दीवार बनाकर मंगोल लुटेरों के प्रवेश को रोकने का उद्योग कर रहे थे, तब बुद्ध के प्रेम की यह वाणी हिमालय जैसे शिखर से भी न रुकती हुई उनके पास पहुँच रही थी!!

यह चिन्तन का विषय हो सकता है कि भारत में वाणी के प्रति इस अद्भुत लगन का रहस्य क्या है? किसने दी इतनी निष्ठा, कहाँ से आया इतना धीरज कि

1. How were these poems composed.... and how, after having been composed, were they handed down from 1500 B.C. to 1500 A.C. .. *Entirely by memory*... And yet is a fact that can easily be ascertained by anybody who doubts it- at the present moment, if every MS. of the R.V. were lost, we should be able to recover the whole of it- from the memory of the 'Shrotriyas' of India.

-Max Muller; India : What can it teach us, Page 181

असंख्य लोग इस वाणी के प्रति सम्मोहित होकर पूरी जिन्दगी बिता दें! वाणी में कैसे भरी गई इतनी ऊर्जा, कि वह हिमालय जैसे शिखरों को पार कर जाय!! सचमुच, दर्शन के विविध सम्प्रदायों द्वारा प्रवर्तित ध्वनि के विभिन्न सिद्धान्तों में इनका रहस्य छिपा प्रतीत होता है। इन सिद्धान्तों ने लोगों में अद्भुत निष्ठा तथा लगन की भावना भर दी। साथ ही यह भी सच है कि इस भावना से ही इन सिद्धान्तों की सुस्थापना हो पाई। इस प्रकार यह प्रभाव अन्योन्य है। जैसे मीमांसकों ने माना कि शब्द नित्य है। सामान्य उच्चारण के द्वारा वह नित्य वेद–वाणी अभिव्यक्त होती है तथा उस उच्चारण के विलुप्त होते ही छिप जाती है। वेदान्त ने भी माना कि सृष्टि के आविर्भाव से लेकर प्रलय पर्यन्त वेदवाणी नित्य रूप से वर्तमान रहती है। अब यदि समस्त भौतिक नश्वर वस्तुओं के बीच वेद–वाणी नित्य है तो उसे प्रकाशित या अभिव्यक्त बनाए रखने के लिये सदा वेद– ध्वनि का प्रबन्ध क्यों न किया जाय। इस प्रकार के अटूट विश्वास से ही वेद–ध्वनि को सदा प्रवर्तित रखना सम्भव हो पाया है।

अगले परिच्छेदों में विज्ञान की पद्धति से ध्वनि के विविध सिद्धान्तों की विवेचना की गई है। इस क्रम में कुछ मान्यताएँ विज्ञान के समतुल्य तथा कुछ इनसे विपरीत भी हो सकती हैं। पर इनसे इनका महत्त्व जरा भी कम नहीं होता। क्योंकि विज्ञान अपनी सीमाओं के अन्तर्गत ही पदार्थों के गुण धर्म की समीक्षा करता है। विज्ञान केवल यह कह सकता है कि उसके उपकरणों से सामान्य ध्वनि से भिन्न कोई मीमांसाप्रोक्त नित्य शब्द उपलब्ध नहीं होता। अब यदि कोई अन्य उपाय से इसकी उपलब्धि करता है, तो इसके लिये उसे छूट है। विज्ञान अपने उपकरणों से यह भी तो नहीं जान सकता कि शब्द के साथ मनुष्य की आत्मिक अद्भुत निष्ठा का क्या सहसम्बन्ध है।

इन सभी सीमाओं को ध्यान में रखते हुए तथा दर्शन – सिद्धान्तों को पूरी बहुमूल्यता प्रदान करते हुए अगले परिच्छेदों का उपक्रम किया गया है।।

---

२. शब्द सभी महाभूतों में निवास करता है।

— वेदान्त

वेदान्त शास्त्र में आकाश आदि महाभूत तथा उनके शब्द आदि गुणों की उत्पत्ति को श्रुति प्रमाण के आधार पर बड़े ही मनोहारी क्रम से निरूपित किया जाता है। उनके अनुसार ईश्वर के ईक्षण तथा संकल्प से सर्वप्रथम सबसे सूक्ष्म आकाश उत्पन्न होता है। उससे स्थूल से स्थूलतर – क्रमशः वायु, उससे अग्नि, उससे जल तथा उससे भी सबसे स्थूल पृथिवी उत्पन्न होती है। इनमें सर्व–प्रथम उत्पन्न आकाश में केवल एक शब्द गुण : वायु में दो – शब्द, स्पर्श : अग्नि में तीन– शब्द, स्पर्श, रूप : जल में चार– शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा पृथिवी में सर्वाधिक पाँच – शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध गुण निवास करते हैं[1]।

इस विवरण से स्पष्ट है कि जो एक मात्र शब्द गुण सबसे पहले उत्पन्न होता है, वह पाँचों महाभूतों में निवास करता है। उसके बाद उत्पन्न होने वाला स्पर्श केवल चार में, पश्चात् उत्पन्न रूप केवल तीन में, पश्चात् उत्पन्न रस केवल दो में तथा सबसे अन्त में उत्पन्न होने वाला गन्ध गुण केवल पृथिवी नामक महाभूत में निवास करता है।

न्याय शास्त्र के अनुसार वायु आदि में स्पर्श आदि गुण ऊपर कहे अनुसार यथावत् मान्य हैं। पर शब्द केवल आकाश में ही रहता है। अन्य किसी महाभूत में नहीं। पर वेदान्त के अनुसार शब्द आकाश के अलावा अन्य सभी महाभूतों में उपलब्ध होने से सर्वत्र वर्तमान होता है। जैसे वायु में बी–सी, अग्नि में भुग् भुग् जल में बुल् बुल् तथा पृथिवी में कडकडा आवाज होती है[2]। इस प्रतीति का कभी बाध नहीं होता। अतः इसे भ्रम भी नहीं कहा जा सकता है[3]।

---

१. तत्राकाशस्य शब्दो गुणः, वायोस्तु शब्दस्पर्शौ, तेजसस्तु शब्दस्पर्शरूपाणि, अपां तु शब्दस्पर्शरूपरसाः, पृथिव्यास्तु शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः।

— वेदान्तपरिभाषा, विषय–परिच्छेद, पृ० ३१०

२. प्रतिध्वनिर्वियच्छब्दो वायौ बीसीति शब्दनम्।
अनुष्णाशीतसंस्पर्शो, वह्नौ भुगु भुगु ध्वनिः।। — पञ्चदशी २.३

३. न च शब्दस्याकाशमात्रगुणत्वम्। वाय्वादावपि तदुपलम्भात्। न चासौ भ्रमः, बाधकाभावात्।
— वेदान्तपरिभाषा, विषय–परिच्छेद पृ. ३१२

इस प्रकार वेदान्त मत में घण्टा में उत्पन्न शब्द घण्टा में ही निवास करता है। श्रोत्रेन्द्रिय से प्रत्यक्ष के समय यह शब्द कानों तक नहीं जाता। अपितु श्रोत्रेन्द्रिय ही घण्टा में अवस्थित शब्द के पास जाकर इस शब्द का प्रत्यक्ष करती है। जिस प्रकार आँखों से प्रत्यक्ष के समय आँखों से निकली किरणें विषय देश तक जाती हैं। उसी प्रकार सुनते समय भी परिच्छिन्न श्रोत्रेन्द्रिय घण्टा – शब्द तक पहुँच जाती है। पंचीकरण के पश्चात् श्रोत्रेन्द्रिय के आकाश में तैजस अंश की प्रधानता होती है। अतः वह उसके बल से घण्टा–देश में, जहाँ तेजोंऽश कम है, वहाँ पहुँच जाता है। तैजस अन्तःकरण भी निकल कर विषय–देश में तदाकार वृत्ति बना लेता है। इस प्रकार भेरी–देश में ही शब्द का प्रत्यक्ष होने से 'मैंने भेरी–शब्द को सुना' यह सही प्रतीति होती है[1]।

ये ककार आदि अक्षर सृष्टि के प्रारम्भ से प्रलय पर्यन्त आकाश में नित्य रूप से वर्तमान रहते हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि वेदान्त में आकाश की भी उत्पत्ति होती है तथा प्रलय में उसका विनाश होता है। अतः उस समय उसका विनाश होने पर अक्षरों का भी विनाश हो जाता है। पर समूचे सृष्टि काल में वे नित्य एक रस बने रहते हैं। मनुष्य द्वारा ककार आदि अक्षर के उच्चारण से वह नित्य अक्षर अभिव्यक्त होता है तथा उस ध्वनि के विलुप्त होते ही वह छिप जाता है[2]। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे टार्च के प्रकाश से पिण्ड प्रकाशित होता तथा प्रकाश के अभाव में छिपता है।

इसी प्रकार वेद भी सम्पूर्ण सृष्टि में एकरस नित्य बना रहता है। अतएव इसे नित्य कहा गया है[3]। क्योंकि यह सामान्य ध्वनि के समान क्षणिक नहीं है। इसीलिये 'सभी एक ही वेद को पढ़ते हैं' यह सही प्रतीति होती है। पर प्रलय के अन्त में आकाश के भी नष्ट होने पर वेद भी नष्ट हो जाता है। इस प्रकार अन्य सभी पदार्थों की अपेक्षा अधिक स्थायी होने से वह नित्य है। पर अन्ततः वह भी

---

१. चक्षुःश्रोत्रे तु स्वत एव विषय–देशं गत्वा स्वस्वविषयं गृह्णीतः। श्रोत्रस्यापि चक्षुरादिवत् परिच्छिन्नतया भेर्यादिदेशगमनसम्भवात्। अत एवानुभवो 'भेरी–शब्दो मया श्रुत' इति।
– वेदान्त परिभाषा, प्रत्यक्षपरिच्छेद पृ. १३१

२. गकारादिवर्णानामपि न क्षणिकत्वम्। ......अनुच्चारणदशायां वर्णानामनभिव्यक्तिस्तदुच्चारण–रूपव्यंजकाभावान्न विरुध्यते।
– वेदान्तपरिभाषा, आगमपरिच्छेद पृ. २४१

३. अत एव च नित्यत्वम्।
– ब्रह्म–सूत्र १.३.२९

अनित्य है। इसकी उत्पत्ति आदि होना श्रुति से प्रमाणित है[1]।

शब्द पाँचों तन्मात्राओं में निवास करता है (सांख्य)– सांख्य शास्त्र के अनुसार शब्दतन्मात्र से आकाश की उत्पत्ति होती है। अतः आकाश में स्पष्टतः शब्द–गुण रहता है। साथ ही स्पर्शतन्मात्र से दो गुणों वाली वायु, रूपतन्मात्र से तीन गुणों वाला तेज, रसतन्मात्र से चार गुणों वाला जल तथा गन्धतन्मात्र से पाँच गुणों वाली पृथिवी उत्पन्न होती है[2]। इस पद्धति से भी आकाश आदि में वे ही गुण रहते हैं, जो वेदान्त में बताए जाते हैं। इस प्रकार सांख्य में भी शब्द नामक गुण सभी महाभूतों में निवास करता है।

इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए न्याय वात्स्यायन भाष्य में शब्द के सम्बन्ध में सांख्य सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार की गई है कि उनके मत में शब्द गुण गन्ध आदि धर्मों के साथ २ एक ही द्रव्य में निवास करता है। अर्थात् जैसे पृथिवी में गन्ध रहता है, ठीक उसी अधिकरण में गन्ध के साथ २ शब्द भी रहता है। इससे स्पष्ट है कि यहाँ भी घण्टा–देश में ही शब्द का भी निवास मान्य है। साथ ही यहाँ भी वेदान्त सिद्धान्त के समान इसे अभिव्यंग्य बताया गया है[3]।

पर कानों से शब्द के प्रत्यक्ष के विषय में यहाँ वेदान्त से मतभेद है। सांख्य सिद्धान्त में यह प्रत्यक्ष उसी प्रकार होता है, जैसे नाक से फूल की गन्ध का प्रत्यक्ष होता है। हम जानते हैं कि इस समय फूल के गन्ध वाले अनेक सूक्ष्म अणु वहाँ से उड़ कर नाक तक पहुँचते हैं। ठीक इसी प्रकार घण्टा के अणुओं में गन्ध के साथ २ शब्द नामक गुण उत्पन्न होकर वे अणु उड़ कर कान तक पहुँचते हैं। तभी कान से उसके शब्द का ग्रहण होता है[4]। जिस प्रकार चिनगारी में तैज के अणु किसी विशेष रूप को लेकर उड़ते हैं। कुछ देर में उनका वह रूप अनुद्भूत हो जाता है। इसी प्रकार घण्टा से उड़े हुए अणुओं का शब्द गुण भी अगले क्षण तिरोभूत हो जाता है। तभी घण्टा की आवाज सुनाई पड़ना बन्द हो जाता है।

---

१. अस्माकं तु मते वेदो न नित्य उत्पत्तिमत्त्वात्। उत्पत्तिमत्त्वं च 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदः (बृ.३.२.४.१०) इत्यादिश्रुतेः। – वेदान्तपरिभाषा, आगमपरिच्छेद पृ.२३६

२. द्रष्टव्य– तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः।
– सांख्यकारिका श्लोक ३८ तथा तत्त्वकौमुदी आदि।

३. गन्धादि–सहवृत्तिर्द्रव्येषु सन्निविष्टो गन्धादिवदवस्थितोऽभिव्यक्तिधर्मक इत्यपरे।
– न्यायसूत्र २.२.१३ पर वात्स्यायन भाष्य।

४. न च घण्टादिपदार्थस्थस्य शब्दस्य सन्तानासम्भवेन ग्रहणासम्भवः, दूरस्थपुष्पनिष्ठगन्धस्येव ग्रहणसम्भवात्। –न्यायसूत्र २.२.३८ पर प्रसन्नपदा टीका।

शब्द, शब्द–परमाणु में रहता है (शिक्षाशास्त्र)– कुछ शिक्षाशास्त्र के विद्वान् इस सांख्य–सिद्धान्त का आश्रय लेते हुए मानते हैं कि शब्द –परमाणु ही स्थूल शब्द में परिणत हो जाता है। उनके मतानुसार सांख्य के शब्दतन्मात्र का आशय शब्द–परमाणु ही है[1]। सांख्य में शब्दतन्मात्र से आकाश का आविर्भाव माना है। उसका तात्पर्य यही कि शब्द के परमाणु से स्थूल, श्रवणयोग्य शब्दकण आविर्भूत होते हैं। जिस प्रकार स्पर्शतन्मात्र से स्थूल स्पर्शयोग्य वायु आविर्भूत होती है। ठीक ऐसी ही स्थिति शब्द के सन्दर्भ में भी है।

इस प्रकार बोलते समय अन्दर से निकलने वाली प्राणवायु तालु आदि के अभिघात के माध्यम से इन शब्द–कणों को इकट्ठा कर लेती है। तभी उस शब्द का प्रत्यक्ष होने लगता है। यह ठीक वैसे ही है जैसे चारों ओर बहती हवा धुआँ को या बादल को इकट्ठा कर लेती है, तभी वे बादल दीखने लगते हैं तथा बरसने लगते हैं। ठीक इसी प्रकार प्राणवायु के द्वारा इन शब्दकणों को इकट्ठा करने पर ये सुनाई पड़ने लगते हैं[2]।

शब्द चार पुद्गलों में निवास करता है. (जैन दर्शन)– इस दर्शन के अनुसार शब्द 'पुद्गल' नामक द्रव्य का पर्याय अथवा अवस्था–विशेष होता है। स्पर्श, रस, गन्ध तथा वर्ण अथवा रूप इन गुणों वाले पदार्थों को पुद्गल कहा जाता है। इस प्रकार वायु, जल, पृथिवी, अग्नि ये पुद्गल हैं। इनमें जो अतिसूक्ष्म हैं, जिनका प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता, उन्हें अणु तथा स्थूल वायु आदि को स्कन्ध कहा जाता है[3]।

शब्द इन्हीं पुद्गलों का पर्याय है, क्योंकि वह रूप आदि के समान इन्द्रियों का विषय है। जो२ इन्द्रियों के विषय हैं, वे अवश्य ही पौद्गलिक होते हैं[4]। पर्याय विविध अवस्थाओं को कहते हैं। ये अवस्थाएं उत्पन्न और नष्ट होती रहती हैं।

---

१. सांख्यशास्त्रे ये तन्मात्रपदेनोच्यन्ते तेऽत्र पञ्च परमाणु–पदेनाभिप्रेताः।
—वाक्यपदीय श्लोक १११ पर अम्बाकर्त्री।

२. स्वशक्तौ व्यज्यमानायां प्रयत्नेन समीरिताः।
अभ्राणीव प्रचीयन्ते शब्दाख्याः परमाणवः। — वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड श्लोक १११
तद्यथा–धूमावयवा वायुना प्रेर्य संहतिमुपनीयन्ते तथा प्राणवातेन शब्दावयवा ध्वनिपरमाणवः सम्प्रेर्यमाणा स्थानेष्वभिघातेन घनीक्रियन्ते – श्लोक ११५ पर अम्बाकर्त्री व्याख्या पृ. १६१। श्लोक ११६ तथा उसकी टीका भी द्रष्टव्य।

३. स्पर्शरसगन्धिवर्णवन्तः पुद्गलाः। (तत्वार्थाधिगम सूत्र ५/२४)। ते च द्विविधा अणवः स्कन्धाश्च। भोक्तुमशक्या अणवः। द्व्यणुकादयः स्कन्धाः। (सर्वदर्शन–संग्रह, आर्हत–दर्शनम् पृ०१५३)

४. पौद्गलिकः शब्दः, इन्द्रियार्थत्वात्–रूपादिवत्। स्याद्वादमञ्जरी पृ० १२६ श्लोक १४ पर अन्ययोग–व्यवच्छेद टीका।

जिस प्रकार कुम्हार के द्वारा मिट्टी अनेक पर्यायों को धारण करती है। इसी प्रकार वायु, जल आदि भी शब्द नामक विशेष अवस्था को धारण करते हैं तथा वह अवस्था अगले क्षण विलुप्त भी हो जाती है।

पुद्गल में सदा किसी न किसी रूप में बने रहने वाले गुण हैं तथा उत्पन्न नष्ट होने वाले पर्याय हैं। इस प्रकार वायु, जल आदि में स्पर्श, रस आदि गुण हैं तथा उनमें ही अवस्थित शब्द-पर्याय भी हैं। यह पर्याय जब तक रहता है तब तक उन गुणों के साथ उनके ही आधार में निवास करता है। इस प्रकार तेज चलने वाली हवा में स्पर्श तथा उसमें ही बी-सी जैसा शब्द-पर्याय भी रहता है। घण्टा के बजने पर उसमें भी स्पर्श तथा टन् टन् जैसा शब्द-पर्याय रहता है। कानों से इसका शब्द सुनाई पड़ते समय घण्टे के शब्द-पर्याय वाले पुद्गल-अणु वायु में मिश्रित हो जाते हैं। इस प्रकार वायु में स्पर्श गुण तथा शब्द-पर्याय दोनों के एक साथ रहने के कारण ही हमें अनुकूल वायु होने पर उसका स्पर्श तथा दूर का शब्द भी सुनाई पड़ जाता है। पर प्रतिकूल वायु की दशा में उसका स्पर्श तथा निकट का शब्द भी सुनाई नहीं पड़ता। इससे सिद्ध है कि उस समय स्पर्श गुण वाली वायु तथा उसमें मिश्रित घण्टा के शब्द-पर्याय वाले पुद्गल अणु हमारे पास पहुँचते हैं। जिस प्रकार वातावरण में शीतल स्पर्श तथा सुगन्ध से उस स्पर्श वाली वायु तथा उसमें ही मिश्रित फूल के गन्ध वाले पुद्गल अणु का परिज्ञान होता है, उसी प्रकार यहाँ भी वैसी वायु तथा उसमें ही मिश्रित शब्द-पर्याय वाले घण्टा-अणु को जान सकते हैं। जैन दर्शन में जो पुद्गल शब्द की अवस्था को धारण करते हैं, उन्हें भाषा-वर्गणा कहते हैं। इस भाषा-वर्गणा में जिस प्रकार स्पर्श आदि गुण आश्रय पाते हैं, वैसे ही शब्द-पर्याय भी वहीं अवस्थित होते हैं[1]।

जैन दर्शन में आकाश अलग द्रव्य के रूप में स्वीकार किया जाता है। वह व्यापक होने तथा भाव-पदार्थ होने से अस्तिकाय है[2]। वह सभी पदार्थों को प्रवेश

---

१. शब्दपर्यायस्याश्रयो भाषा-वर्गणा, न पुनराकाशम्। तत्र (भाषा-वर्गणाया) च स्पर्शो निर्णीयत एव। यथा शब्दाश्रयः स्पर्शवान्। अनुवाप्रतिवातयोर्विप्रकृष्ट-निकटशरीरिणोपलभ्यमानानुपलभ्य-मानेन्द्रियार्थत्वात्। तथाविध-गन्धाधारद्रव्यपरमाणुवत्।

—स्याद्वादमञ्जरी श्लोक १४ पर अन्ययोगव्यवच्छेद टीका पृ. १२६.१२७

२. धर्माधर्माकाशपुद्गलकालजीवलक्षणं द्रव्यषट्कम्। —स्याद्वादमञ्जरी पृ.२०४।
यहाँ छह प्रकार के द्रव्यों की गणना में आकाश तथा उससे भिन्न पुद्गल को स्वीकार किया गया है।

अथवा अवकाश प्रदान करता है[1]। इस प्रकार आकाश की सम्पूर्ण चरितार्थता घण्टा को अवकाश प्रदान करने में निहित है। पर इसमें विभिन्न शब्द उत्पन्न होना घण्टा के विभिन्न शब्द–पर्यायों का परिणाम है। अतः शब्द पुद्गल के शब्द–पर्यायों के रूप में मान्य है, आकाश के किसी गुण या पर्याय के रूप में नहीं। रूप आदि के समान जो गुण हमारे प्रत्यक्ष में आते हैं, वे कभी आकाश के गुण नहीं होते। इसलिये भी शब्द आकाश का गुण नहीं है[2]।

---

१. अन्यवस्तुप्रदेशमध्येऽन्यस्य वस्तुनः प्रवेशोऽवगाहः। तदाकाशकृत्यम्।

—सर्वदर्शनसंग्रह, आर्हतदर्शन, पृ. १५२.

२. न गगनगुणः शब्दः, अस्मदादिप्रत्यक्षत्वात्, रूपादिवत्। —स्याद्वादमञ्जरी पृ. १२७

३. शब्द वायु का परिणाम है।

—शिक्षा शास्त्र

शिक्षा शास्त्र में शब्द विषयक यह सम्मानित मत प्राचीन काल से प्रचलित है। इसके अनुसार वायु कुछ विशेष दशाओं में शब्द आकार में परिणत हो जाती है। दर्शन शास्त्र में 'परिणाम' शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ में किया जाता है। इस प्रक्रिया में कोई वस्तु तत्त्वतः अन्य आकार या अवस्था को धारण करती है। ऐसा होने पर इसे अन्य नाम से पुकारा जाने लगता है। जैसे दूध का दही बनना उसका परिणाम है। इसी प्रकार यहाँ माना गया कि वायु ही शब्द की एक विशेष दशा में बदल जाती है तथा तत्काल पुनः वह वायु दशा में आ जाती है।

इस विषय में शिक्षा का एक प्रसिद्ध श्लोक यह है कि आकाश तथा वायु के प्रभाव से नाद नामक वायु शरीर से मुख तक आती है। यही मुख के विभिन्न स्थानों में विभक्त होकर वर्ण के रूप में बदल जाती है। इसे ही शब्द कहते हैं।[1]।

इसकी व्याख्या करते हुए वाक्यपदीय का एक प्रसिद्ध श्लोक इस प्रकार है—

लब्धक्रियः प्रयत्नेन वक्तुरिच्छानुवर्तिना।

स्थानेष्वभिहतो वायुः शब्दत्वं प्रतिपद्यते।।

—वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, श्लोक १०८

इसका अर्थ यह है कि वक्ता की इच्छा के अनुरूप प्रयत्न के द्वारा अन्दर की सक्रिय वायु इकट्ठी होकर ऊपर की ओर भागती है। यह कण्ठ, तालु आदि स्थानों से टकरा कर 'अभिघात' नामक संयोग करती है। इस प्रक्रिया में यह वायु शब्द रूप में बदल जाती है।

यहाँ टीकाकारों ने उदाहरण देते हुए कहा है कि मेघ का जल प्रतिकूल

---

१. आकाशवायुप्रभवः शरीरात् समुच्चरन् वक्त्रमुपैति नादः।
स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो वर्णत्वमागच्छति यः स शब्दः।। —वर्णोच्चारणशिक्षा।

२. मेघस्थमुदकं प्रतिकूलवातसहकृतेन तादृशेनोदकान्तरेणाभिहतं विद्युद्रूपतया परिणमति। अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मणः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम्। तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति। तत्रापि शब्दाकारः परिणामस्तु वज्रनिर्घोषाख्यो वायोरेव न जलस्य। तदुक्तमग्निपुराणे— यदाऽन्तरिक्षे बलवान् मारुतो मरुता हतः। जायते तत्र निर्घोषो बलवान् वायुसम्भवः।
— उक्त वाक्यपदीय श्लोक पर अम्बाकर्त्री टीका, पृ०१८७

वायु के द्वारा अन्य जलौघ से टकरा कर विद्युत् रूप में बदल जाता है तथा यहाँ की भीषण वायु मेघगर्जन रूपी शब्दाकार में परिणत होती है[२]। इस प्रकार ये दोनों अलग २ उपादान कारणों के परिणाम हैं। जल का विद्युत् रूप में तथा वायु का शब्दरूप में परिणाम होता है। विपरीत नहीं हो सकता। क्योंकि दर्शनशास्त्र में विद्युत् का कारण जल को ही तथा शिक्षाशास्त्र आदि में शब्द का कारण वायु को ही बताया गया है[१]।

यही स्थिति मुख से बोले जाने वाले शब्दों की भी है। यहाँ भी अन्दर की वायु वेग से आकर मुख के विभिन्न स्थानों से टकराती है। इस समय यदि कण्ठ पूरी तरह खुला हुआ हो तो यह 'श्वास' नामक शब्दाकार को धारण करती है। पर कण्ठ के संकोच होने पर यह वायु 'नाद' नामक शब्दाकार में परिणत होती है[२]। श्वास तथा नाद को क्रमशः अघोष तथा घोष भी कहा जा सकता है। व्यंजनों में वर्ग के प्रथम अक्षर क, च आदि अघोष हैं तथा तृतीय अक्षर ग, ज आदि सघोष हैं। सघोष अक्षर में एक ही अक्षर का अनुरणन अथवा झंकार होता है। पर अघोष अक्षर के उच्चारण में कण्ठ के खुला होने के कारण यह अनुरणन नहीं हो पाता। इसलिये इन्हें उचित ही अघोष नाम दिया गया है। इस समय सघोष की अपेक्षा इन अक्षरों का शब्दाकार में परिणाम कम तथा वायुरूप में इनकी उपस्थिति अधिक होती है। यह स्थिति वैसी ही है जैसे दूध अपने परिणाम की प्रक्रिया में कठोर दही की अपेक्षा कम जमा हो। यहाँ भी वायु का शब्द रूप में कम परिणाम तथा इस प्रकार वायु रूप में अधिक उपस्थिति होने से इन अक्षरों को 'श्वास' नाम दिया गया है।

मीमांसकों द्वारा इस सिद्धान्त का खण्डन– अनेक दर्शन सम्प्रदाय इस

---

१. विज्ञान के अनुसार, भाप, वायु और धूल के कणों से निर्मित बादल आपस में टकराने से आवेशित हो जाते हैं। ऐसे में ऋण आवेश अन्य स्थान में वर्तमान विपरीत आवेश के प्रति आकर्षित होकर अतिवीव्र गति से जाकर उससे मिलता है। आवेश के इस प्रवाह से बिजली की चमक के रूप में प्रकाश ऊर्जा मुक्त होती है। इस भयंकर प्रवाह के समय रास्ते में आने वाली हवा क्षण भर में हजारों अंश गर्म होकर बहुत तेजी से फैलती है। इस प्रक्रिया में बिजली की चमक केवल सेकेण्ड के कुछ सहस्रांश ही जीवित रहती हैं। इतने कम समय में भी यह रास्ते के वायु के ताप को बढ़ाते हुए इनके अणुओं में इतना जबर्दस्त प्रकम्पन उत्पन्न करती है कि यह भयंकर ध्वनि उत्पन्न कर सके। स्पष्टतः दर्शन तथा शिक्षाशास्त्र का उपरिलिखित विवरण विज्ञान की अवधारणा के समतुल्य है।

२. सोऽनुप्रदानरूपेण परिणतो वायुः कण्ठगतो विवृते कण्ठे श्वासरूपतां, संवृते कण्ठे नादतां च प्रतिपद्यते। — वाक्यपदीय श्लोक ११५ पर अम्बाकर्त्री व्याख्या।

सिद्धान्त का विस्तार से खण्डन करते हैं। जैसे मीमांसकों का कहना है कि अगर शब्द वायु का परिणांम होता तो शब्द के साथ२ उसके कारण की भी प्रत्यक्ष उपलब्धि होती। अन्य सभी जगह ऐसा ही होता है। जैसे पट का चक्षु से प्रत्यक्ष होने पर उसके कारण तन्तु का भी अवश्य ही उसी समय प्रत्यक्ष होता है। इसी प्रकार यहाँ भी शब्द के वायुकारणक होने की दशा में शब्द प्रत्यक्ष के समय उनके वायवीय अवयवों का भी प्रत्यक्ष होना चाहिये। ऐसा न होने से इस शब्द को वायु से उत्पन्न नहीं माना जा सकता[1]।

इस प्रकार यहाँ शिक्षा शास्त्र द्वारा प्रवर्तित केवल वायु की 'शब्द--द्रव्य' की उपादान--कारणता के सिद्धान्त का खण्डन किया गया है। अन्य सभी विवरण आज भी सबको सर्वथा स्वीकार्य हैं। शिक्षा शास्त्र के ही अन्य सम्प्रदाय में वायु के निमित्त कारण होने की भी स्थापना की गई है। यह स्थापना अत्यन्त वैज्ञानिक है। इसका विस्तृत विवरण इस ग्रन्थ के चौदहवें परिच्छेद में प्रस्तुत किया गया है।

---

१. वायवीयश्चेच्छब्दो भवेत् वायोः संनिवेशविशेषः स्यात्। न च वायवीयानवयवान् शब्दे सतः प्रत्यभिजानीमो यथा पटस्य तन्तुमयान्। —मीमांसा दर्शन १.१.२२ पर शाबर भाष्य।

४. शब्द आकाश में अवस्थित विभु, नित्य गुण है।

—मीमांसा

शब्द के सम्बन्ध में एक अन्य प्रमुख मत मीमांसकों का है। यह बहुत प्राचीन समय से प्रचलित है तथा अनेक मतभेद होने पर भी इसे दर्शन– जगत् में अत्यन्त सम्मानित स्थान प्राप्त है। इसकी मौलिक विशेषताओं को न्याय वात्स्यायन भाष्य में इस प्रकार निरूपित किया गया है–

आकाश–गुणः शब्दो विभुर्नित्योऽभिव्यक्तिधर्मकः।

—न्याय सूत्र २.२.१२ पर वा. भाष्य

अर्थात् प्रभाकर मीमांसकों के मत में शब्द आकाश का गुण होता है। साथ ही वह विभु, नित्य तथा अनेक उपायों से अभिव्यक्त या प्रकाशित होने का गुण रखता है। इस क्रम से इसकी विस्तृत व्याख्या इस प्रकार है–

१. शब्द आकाश का गुण होता है– यह अभिमत न्याय तथा प्रभाकर मीमांसकों में समान रूप से मान्य है। यद्यपि भट्ट मीमांसक आकाश के अलावा शब्द को अलग द्रव्य के रूप में स्वीकार करते हैं। पर प्रभाकर मीमांसकों के अनुसार आकाश नामक द्रव्य में शब्द नामक गुण रहता है।

यह गुण सर्वव्यापक आकाश में सर्वत्र एक रूप से सदा अवस्थित है। यहाँ नैयायिकों से मतभेद है। न्याय में शब्द को अव्याप्यवृत्ति अर्थात् आकाश के एक छोटे से देश में अवस्थित माना जाता है। वह क्षणिक होने से शीघ्र ही उस देश से विलुप्त भी हो जाता है। उनके अनुसार आकाश तथा आत्मा के गुण इसी प्रकार के हुआ करते हैं[१]।

पर मीमांसकों के अनुसार एक विभु आकाश में रहने वाला गुण एक ही हो सकता है, अनेक कदापि नहीं। यदि शब्द एक न हो तो आकाश भी मूलतः एक न रह सकेगा।

यह सच है कि उपाधि के धर्म उपधेय से भिन्न होते हैं। जैसे घटाकाश में आकाश की उपाधि घट सर्वव्यापक नहीं है। पर यहाँ शब्द आकाश की उपाधि

---

१. अथाकाशशरीरिणाम्। अव्याप्यवृत्तिः क्षणिको विशेषगुण इष्यते।

—कारिकावली, प्रत्यक्षखण्ड श्लोक २७

नहीं है, अपितु उसका विशेष गुण है, उसकी पहचान है। अतः जैसे आकाश एक है वैसे ही शब्द को भी एक मानना होगा। साथ ही एक तथा भागरहित आकाश में दो विशेषताएँ रह भी नहीं सकती। क्योंकि तब तो उसकी एकता में ही व्याघात होगा। इसलिये भी आकाश में अवस्थित शब्द एक ही सिद्ध होता है[१]।

२. शब्द विभु या सर्वव्यापक होता है– उपरिलिखित तर्क के अनुसार आकाश के विभु होने से शब्द भी विभु है। किसी भी विशेष गुण की व्यापकता या उसका छोटा, बड़ापन उसके द्रव्य से नियन्त्रित होता है। अग्नि का उष्ण गुण उतना ही व्यापक होता है, जितना अग्नि। ये विशेष गुण उस द्रव्य की इस व्यापकता का अतिक्रमण नहीं कर सकते। क्योंकि ये ही इस द्रव्य की पहचान होते हैं। इस प्रकार आकाश के गुण शब्द को उतना व्यापक मानना होगा, जितना आकाश है। इससे सिद्ध है कि शब्द भी विभु है।

३. शब्द नित्य होता है– शब्द के विभु होने पर उसका नित्य होना स्वयं सिद्ध है। क्योंकि प्रत्येक विभु पदार्थ अनिवार्य रूप से नित्य होते हैं। इस प्रकार हजार वर्ष पहले या इस समय बोला गया 'क' अक्षर तथा भारत में अथवा जापान में बोला गया यह अक्षर उत्पन्न नष्ट न होने से नित्य तथा इस प्रकार एक होने से वही है। न्याय के विद्वान् तथा सामान्य लोग भी यह सोचते हैं कि यह 'वही' नहीं, अपितु 'उस तरह' का है[२]। सामान्य जीवन में 'वही' तथा 'उस तरह' में बहुत घालमेल देखा गया है। लोग तो शाम को जलाई गई दीपकलिका को सबेरे उठने पर भी 'वही' कह देते हैं। मीमांसा का कहना है कि इसी घालमेल के परिणाम स्वरूप इस अक्षर को 'उस तरह' का बताया जाता है, पर वस्तुतः वह 'वही' है।

मीमांसा के इस सिद्धान्त पर अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं। जैसे एक प्रमुख प्रश्न यह है कि शब्द नित्य होने की दशा में वह हर समय सुनाई क्यों नहीं पड़ता अथवा उसे श्रवणयोग्य बनाने के लिये मुख के प्रयत्न के द्वारा बोलने की अपेक्षा क्यों होती है। इसका उत्तर शब्द की अगली विशेषता के द्वारा दिया गया है–

---

१. आकाशदेशश्च शब्दः। एकं च पुनराकाशम्। अतोऽपि न नानादेशेषु (शब्दः)
—मीमांसा सूत्र १.१.१५ पर शाबर भाष्य।

तुलनीय– श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः। एकं च पुनराकाशम्।
—अष्टाध्यायी अइउण् सूत्र पर महाभाष्य।

२. सोऽयं क इति बुद्धिस्तु साजात्यमवलम्बते। —कारिकावली श्लोक १६७

४. शब्द मुख आदि के प्रयत्न से अभिव्यक्त या प्रकाशित होता है– शब्द नित्य अर्थात् सर्वदा वर्तमान रहने पर भी वायु आदि द्वारा अप्रकट या छिपा हुआ रहता है। अतः जिस प्रकार अंधेरे में छिपे हुए पिण्ड को प्रकाश द्वारा अभिव्यक्त करते हैं, उसी प्रकार मुख में तालु आदि के संयोग विभाग द्वारा वायु में वैसा ही संयौग विभाग उत्पन्न करके उस छिपे हुए शब्द को प्रकट कर दिया जाता है। जिस प्रकार प्रदीप से प्रकाशित पिण्ड को हम प्रदीप से उत्पन्न नहीं, अपितु केवल अभिव्यक्त मानते हैं, उसी प्रकार वायु के संयोग विभाग से शब्द कोई नया उत्पन्न नहीं होता, अपितु वह केवल प्रकाशित भर होता है तथा अगले ही क्षण उस संयोग, विभाग के बन्द होने पर पुनः छिप जाता है। इस दृष्टि से मीमांसा में यह मान्य है कि स्थिर वायु सदा नित्य शब्द को आवृत किये रहती है। पर कानों से परिसीमित आकाश में वायु के संयोग, विभाग द्वारा झिलमिल होने पर वह शब्द, सुनाई पड़ने लगता है। पुनः तत्काल वहीं छिप जाता है[1]!!

मीमांसा के इस सिद्धान्त में अनेक प्रश्न उत्पन्न होते हैं। ऊपर उदाहरण में कहा गया कि अभिव्यंजक प्रकाश द्वारा पिण्ड की उपलब्धि होती है। इस समय हम प्रकाश तथा पिण्ड दोनों की उपलब्धि करते हैं। पर यहाँ आपके द्वारा मान्य अभिव्यंजक वायु के संयोग–विभाग का प्रत्यक्ष तो होता ही नहीं। पुनः इसके द्वारा ध्वनि का प्रत्यक्ष किस प्रकार हो सकता है[2]। इसके उत्तर में यह कह सकते हैं कि उस उदाहरण में आवरक अंधेरा उपलब्ध होने से आवरकाभाव प्रकाश की उपलब्धि आवश्यक होती है। पर यहाँ आवरक वायु के उपलब्ध न होने से अभिव्यंजक संयोग विभाग के प्रत्यक्ष न होने पर भी उसके द्वारा ध्वनि की उपलब्धि हो जाती है[3]।

इस उत्तर के पश्चात् भी मीमांसकों पर प्रश्न उपस्थित होते हैं। जैसे यह देखा गया है कि अनेक लोग 'क' आदि अक्षरों का उच्चारण द्रुत, विलम्बित आदि तार–भेद से, या स्वरों में उदात्त, अनुदात्त आदि मात्रा भेद से अथवा अम्बूकृत

---

१. द्विविधो हि वायुः– स्थिरः अस्थिरश्च। तत्र यः स्थिरः स घनान्धकारवत् शब्दमावृत्यास्ते। तस्य च वक्तृप्रयत्नसमुत्थेन वायुना संयोगविभागा उत्पद्यन्ते।तैश्च संयोगविभागैस्तस्य स्थिरस्य वायोरपनयः क्रियते, स एव च शब्दस्य संस्कारः।
– तत्त्वसंग्रह श्लोक २१६५ पर कमलशील कृत पञ्जिका टीका।

२. कथमगृहीते व्यंजके व्यंग्यस्य ग्रहणं भवति, न ह्यालोकाग्रहणे तद्व्यंग्यस्य घटादेर्ग्रहणं युक्तम्।
– तत्त्वसंग्रह श्लोक २१४६ पर पञ्जिका।

३. तुलनीय–वायवीयाः पुनः संयोगविभागा अप्रत्यक्षस्य वायोः कर्णशष्कुलीप्रदेशे प्रादुर्भवन्तो नोपलभ्यन्त इति नानुपपन्नम्।
–मीमांसा सूत्र १.१.१५ पर शाबर भाष्य

आदि दोषों के भेद से अनेक प्रकार से करते हैं। यहाँ मीमांसकों के सिद्धान्त के अनुसार 'क' अक्षर तो नित्य, एक ही है। पुनः यह विविध अभिव्यंजकों के विभेद के कारण अलग२ प्रतीत होता है। जिस प्रकार एक ही पिण्ड अभिव्यंजक लाल, हरा, प्रकाश के भेद से अनेक प्रकार का प्रतीत होता है। इसी प्रकार अभिव्यंजक की विशेषताओं को शब्द में आरोपित करने के कारण शब्द अनेक.प्रकार का प्रतीत होता है। पर वस्तुतः वह एक ही है।

इस पर प्रश्न यह है कि अभी आपके कथनानुसार जब अभिव्यंजक का प्रत्यक्ष ही नहीं है तो उसकी विशेषताएँ किस प्रकार अभिव्यंग्य शब्द में आरोपित कर प्रत्यक्ष हो गईं। जल को देखे बिना उसकी महत्ता तरंगों में किस प्रकार आरोपित हो सकती है[1]। प्रकाश को देखे बिना उसके लाल, हरा गुणों का आरोप पिण्ड में किस प्रकार हो सकता है?

इसका उत्तर यह दिया जाता है कि जिस प्रकार पित्त दोष से ग्रस्त व्यक्ति को अभिव्यंजक पित्त देखे बिना ही मीठा तीता लगता है, उसी प्रकार यहाँ भी अभिव्यंजक देखे बिना ही अभिव्यंग्य में आरोपित इसके धर्मों का प्रत्यक्ष हो जाता है[2]।

इस पर एक प्रश्न यह हो सकता है कि किसी द्रव्य के द्वारा किसी अन्य द्रव्य को प्रतिबन्धित करके ही उसके गुणों को रोका जा सकता है। दीवाल आदि द्वारा पुष्पकणों को रोक कर ही उसकी गन्ध को रोका जाता है। पर यहाँ वायु द्वारा आकाश नामक द्रव्य को आवृत किये बिना उसके गुण शब्द को किस प्रकार आवृत किया जा सकता है।

मीमांसा के उत्तर के अनुसार सचमुच यह अपने आपमें अनूठा अभिव्यंजक है। यहाँ वायु की उपस्थिति मात्र से आकाश को आवृत किये बिना ही शब्द को आवृत कर लिया जाता है। साथ ही वायु के संयोग विभाग 'होने' मात्र से अथवा इसके अस्तित्व मात्र से शब्द का अभिव्यंजन हो जाता है[3]। जिस प्रकार अन्य दर्शनों में भी चुम्बक के अस्तित्व मात्र से लोहे में क्रिया हो जाती है, इसी प्रकार 'वह है' इतने मात्र से शब्द का आवरण तथा प्रकाशन सम्पन्न होता है!!

---

१. कथमगृहीत्वा व्यञ्जकस्थं महत्त्वादि शब्दे समारोपयेत्। न ह्यविषयीकृतस्य जलादेर्मरीचिकादावारोपो भवेत्। —तत्त्वसंग्रह श्लोक २१४६ पर पञ्जिका।

२. मधुरं तिक्तरूपेण श्वेतं पीततया यथा।
गृह्णन्ति पित्तदोषेण विषयं भ्रान्तचेतसः। — तत्त्वसंग्रह श्लोक २१४६

३. शब्दे बुद्धिस्तु तद्वशात्। — तत्त्वसंग्रह श्लोक २१४८
'नादवशात् तत्सत्तामात्रेणैवेति' यावत्। — प्रस्तुत श्लोक पर पञ्जिका।

इस सिद्धान्त के अनुसार अक्षरों की विभुता पर एक प्रश्न यह है कि यदि किसी समय श्रोता के कान के आकाश में 'क' अक्षर अवस्थित है, तो उसे अगले क्षण 'ख' कैसे सुनाई देगा[1]। वह अक्षर विभु होने के कारण क्रियाशील नहीं हो सकता। अतः वह वहाँ से कभी हट नहीं सकता। तब अन्य अक्षर की अभिव्यक्ति किस प्रकार सम्भव हो सकती है।

इसका उत्तर यह दिया जाता है कि विभु आकाश में सम्पूर्ण विभु अक्षर एक साथ अवस्थित हैं। कान में अलग२ प्रकार के वायु के संयोग–विभाग रूपी झिलमिल से अलग२ अक्षर सुनाई पड़ते हैं। इस प्रकार यह वायु के झिलमिल का कमाल है कि वह भिन्न२ अक्षरों का प्रत्यक्ष कराता रहता है।

इस सिद्धान्त पर एक अन्य प्रश्न इस प्रकार पूछा जा सकता है कि वायु के संयोग, विभाग द्वारा कानों में विभु अक्षर के किसी अवयव का प्रत्यक्ष होता है, या सम्पूर्ण विभु अक्षर का ? प्रथम विकल्प सम्भव नहीं, क्योंकि विभु का कोई अवयव नहीं होता। दूसरा विकल्प मानने पर 'क' अक्षर सुनते समय पूरी दुनियाँ के 'क' अक्षर सुनाई पड़ने लगेंगे[2]।

इसका उत्तर यह है कि उस अक्षर का स्वभाव ही ऐसा है कि एक कान में केवल एक ही अक्षर सुनाई पड़ता है। न्यायशास्त्र के अनुसार भी तो सम्पूर्ण दुनियाँ में रहने वाली गायों में एक गोत्व जाति मानी जाती है। उस जाति का कोई अवयव नहीं होता। फिर भी एक ही गाय को देखकर गोत्व जाति का प्रत्यक्ष मान लिया जाता है। यह जिस प्रकार यहाँ सम्भव है वही प्रक्रिया मीमांसा में 'क' आदि अक्षरों के प्रत्यक्ष के संदर्भ में भी मानी जा सकती है। न्यायशास्त्र का ही एक सिद्धान्त यह है कि यदि दो दर्शन सम्प्रदायों में एक ही प्रकार का दोष आपतित हो तो उसके लिये किसी एक को दोषी नहीं ठहराना चाहिये[3]।

उपरिलिखित प्रश्न को अन्य प्रसंग में अन्य प्रकार से उठाया जाता है। 'सत्वान्तरे च यौगपद्यात् (मीमांसा सूत्र १.१.६) के अन्तर्गत यह पूछा गया है कि एक नित्य शब्द अनेक स्थानों में एक साथ किस प्रकार उपलब्ध हो सकता है[4]। अनेक

---

१. यत्रैव वक्तृमुखाकाशदेशे श्रोतृश्रोत्राकाशदेशे वा गोशब्द उपलब्धः, तत्रैवाश्वशब्द इदानीमुपलभ्यते। न पुनरतिमुक्तकुसुमे य उपलब्धो गन्धः स बन्धूके मधूके वा कदाचिदुपलभ्यते।
— न्याय मञ्जरी, पृ. २०७

२. तत्र सर्वैः प्रतीयेत शब्दः संस्क्रियते यदि। निर्भागस्य विभोर्न स्यादेकदेशे हि संस्क्रिया।
— तत्त्वसंग्रह, श्लोक २१५६

३. यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः।
नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे। — तर्कभाषा, अभावनिरूपण के अन्त में।

४. नानादेशेषु च युगपच्छब्दमुपलभामहे। तदेकस्य नित्यस्यानुपपन्नम्।
— मीमांसा सूत्र १.१.६ पर शाबरभाष्य

स्थानों में एक साथ उपलब्ध होने वाली वस्तु सजातीय हो सकती है, सर्वथा एक कदापि नहीं। यदि वह अनवयव रूप से एक साथ सर्वत्र व्याप्त हो तो वह परिच्छिन्न व्यक्ति को सावयव रूप से उपलब्ध नहीं हो सकती।

आदित्यवद् यौगपद्यम् (मीमांसा सूत्र १.१.१५) के शाबर भाष्य में इस प्रश्न का समाधान जिन शब्दों में किया गया है, वह इस प्रकार है–

'अरे देवताओं के प्यारे, मूर्ख! जरा सूरज की तरफ देखो। यह सूर्य एक होकर भी जिस प्रकार एक साथ अनेक स्थानों में अवस्थित जैसा लगता है, उसी प्रकार की स्थिति यहाँ भी है'[1]। इस भाष्य की टीका में कहा है कि विन्ध्यदेश तथा असम के लोग प्रातःकाल एक साथ अपनी२ पूर्व दिशा में सूर्य को उगता हुआ देखते हैं। उसी प्रकार यहाँ भी होता है[2]।

ध्यान देने योग्य है कि यहाँ दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्त में बहुत भिन्नता है। सूर्य अतिविशाल होकर भी विभु नहीं है। उसमें से शक्तिशाली तथा महावेगशाली असंख्य अभिव्यंजक किरणें निकल कर विन्ध्य तथा असम में बैठे हुए मनुष्यों की आँखों की रेटिना में एक साथ अलग२ सूर्य के प्रतिबिम्ब को उपस्थित करती हैं। पर यहाँ शब्द विभु है। इसका अभिव्यंजक बहुत कमजोर है। यह मुख से समीपस्थ मनुष्य के कान तक जा पाता है। यह एक साथ अनेक स्थानों के मनुष्यों को एक ही शब्द का अभिव्यंजन किस प्रकार करा सकता है। ध्यान दें, दृष्टान्त में अनेक अभिव्यंजकों से <u>अनेक प्रतिबिम्ब</u> का प्रत्यक्ष होता है। पर दार्ष्टान्त में अनेक अभिव्यंजकों से एक साथ <u>एक ही शब्द के</u> प्रत्यक्ष की बात कही जाती है। यह सम्भव प्रतीत नहीं होता।

संक्षेप में कहें तो मीमांसा–प्रोक्त शब्द की विशेषताएँ सामान्य मनुष्य की बुद्धि के लिये अगम्य हैं। कोई शब्द नित्य हो, वह अन्य अभिव्यञ्जक से प्रकाश्य हो। पर स्वयं अभिव्यञ्जक का प्रत्यक्ष न होता हो। पर साथ ही अभिव्यञ्जक के धर्मों का प्रत्यक्ष हो जाता हो ! वह स्वयं विभु हो, पर कर्णशष्कुली से अवच्छिन्न छोटे से आकाश देश में उसका प्रत्यक्ष हो जाता हो। वह स्वयं एक हो, पर अनेक स्थानों के लोग एक साथ 'उसी' अक्षर का प्रत्यक्ष करते हों! सचमुच, ऐसे शब्द का अनुभव कर पाना सामान्य मनुष्य के लिये <u>आसान कार्य नहीं है!!</u>

---

१. आदित्यं पश्य देवानांप्रिय ! एकः सन्ननेकदेशावस्थित इव लक्ष्यते।
– मीमांसा सूत्र १.१.१५ पर शाबर भाष्य।

२. ये तावद् विन्ध्यनिलयाः पुरुषाः, ये च कामरूपे स्थितास्तैः सर्वैरपि स्वस्वात्मनः प्राग्भाग एवोद्यन् भास्वान् निरीक्ष्यते। – मीमांसा सूत्र १.१.१५ पर शाबर भाष्य की टीका।

मीमांसा तथा वेदान्त में वेद की नित्यता का आशय– मीमांसा शास्त्र में इस महान् प्रयत्न से शब्द–नित्यता की सिद्धि वेदों को नित्य बनाने के लिये की जाती है। इस शास्त्र के अनुसार वेद अपौरुषेय होने से नित्य हैं। अर्थात् किसी पुरुष या पुरुषविशेष ईश्वर के द्वारा रचना की कृपा के अधीन नहीं है। अपितु वे सर्वथा नित्य हैं[1]। प्रलय न होने से अथवा सृष्टि सदा बनी रहने से उनके विनाश का कभी प्रसंग ही उपस्थित नहीं होता।

इस प्रकार की अवधारणा से यह आभास मिलता है कि इस सिद्धान्त के अनुसार जिस प्रकार बाहरी दुनियाँ में आकाश में अक्षर विभु रूप से एकरस छाए हुए हैं, उसी प्रकार अक्षर–समूह शब्द तथा उनसे निर्मित वेद–वाक्य भी आकाश में नित्य रूप से वर्तमान रहते हैं।

पर यह सोचना सही नहीं है। आकाश में वर्णों के नित्य रूप से अवस्थित मानने पर भी शब्द तथा उस आनुपूर्वी वाले वेद वाक्यों का आकाश में सदा बने रहना किसी भी रीति से सम्भव नहीं हो सकता। आकाश कोई ब्लैकबोर्ड तो है नहीं, जिसमें विविध अक्षर क्रम से जड़े हुए हों, यह भी नहीं कि उन अक्षरों को लोग देवनागरी लिपि के क्रम से बाएँ से दाहिनी ओर पढ़ते हों। ऐसा भी नहीं है कि इस गोल पृथिवी में वे अक्षर सभी के लिये बाईं या दाहिनीं ओर हों। अतः स्पष्टतः वे वाक्य बाहरी दुनियाँ में आकाश या आत्मा के समान नित्य नहीं हो सकते।

दर्शनशास्त्र के गम्भीर विद्वानों ने इस तथ्य को भली भाँति समझ लिया था। भामतीकार आचार्य वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि जो (मीमांसक) वर्णों को नित्य मानते हैं, उन्हें भी पद और वाक्य को तो अनित्य ही मानना होगा। क्योंकि आनुपूर्वी व्यक्ति–धर्म है, वर्ण का धर्म नहीं। मनुष्यों द्वारा बनाई गई वर्णों की आनुपूर्वी स्वयं वर्णों की विशिष्टता किस प्रकार बन सकती है। सदा वर्तमान, नित्य, विभु अक्षर देश और काल की दृष्टि से एक दूसरे से आगे पीछे नही रह सकते[2]।

---

१. अपौरुषेया वेदाः; सम्प्रदायाविच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वादात्मवत्।

— सर्वदर्शनसंग्रह, जैमिनि– दर्शन पृ. ५४१

२. येऽपि तावत् वर्णानां नित्यत्वमास्थिषत तैरपि पदवाक्यादीनामनित्यत्वमभ्युपेयम्। आनुपूर्वीभेदवन्तो हि वर्णाः पदम्। पदानि चानुपूर्वीभेदवन्ति वाक्यम्। व्यक्ति–धर्मश्चानुपूर्वी न वर्णधर्मः, वर्णानां नित्यानां विभूनां च कालतो देशतो वा पौर्वापर्यायोगात्। व्यक्तिश्चानित्येति कथं तदुपगृहीतानां वर्णानां नित्यानामपि पदता नित्या। पदानित्यतया च वाक्यादीनामप्यनित्यता व्याख्याता।

—ब्रह्मसूत्र १.१.३ पर शांकर भाष्य पर भामती।

इसलिये मीमांसा में वेद को नित्य कहने का वास्तविक आशय यह है कि वेद सदा अनादि काल से गुरु–शिष्य परम्परा से पढ़ा पढ़ाया जा रहा है। यह परम्परा कभी टूटी नहीं[1]। इसके स्वर, मात्रा तक में कभी कोई बदलाव नहीं आया। इसे बदलने में कभी कोई स्वतन्त्र नहीं रहा, न हो सकता है।

वेदान्त में भी वेदों की नित्यता का यही आशय है। पर क्योंकि इस सिद्धान्त में सृष्टि, प्रलय होता है, अतः मान्य है कि सम्पूर्ण सृष्टि पर्यन्त वेद नित्य रूप से गुरु–शिष्य–परम्परा में अवस्थित रहता है। प्रलय में आकाश के साथ वेद भी विनष्ट हो जाता है। इस प्रलय के पश्चात् पुनः नई सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर निःश्वासवत् अनायास ही ठीक पिछली आनुपूर्वी के समान वेद को पुनः प्रकट करता है। इस आनुपूर्वी को बदलने में ईश्वर भी स्वतन्त्र नहीं है[2]। जिस प्रकार प्रत्येक सर्ग के प्रारम्भ से अग्नि जलाती ही है, पानी गलाता ही है। विपरीत नहीं हो सकता। उसी प्रकार वेदों की आनुपूर्वी भी विपरीत नहीं हो सकती।

यद्यपि वेदान्त परिभाषा आदि ग्रन्थों में वर्ण के साथ२ पद वाक्य समूह रूप वेद की आकाश के समान सम्पूर्ण सृष्टि–पर्यन्त नित्यता बताई है[3]। पर उपरिलिखित तर्क तथा भामती की व्याख्या के अनुसार यह मान लेना आवश्यक है कि वर्ण–नित्यता तथा पद–वाक्य–नित्यता का अर्थ भिन्न२ है। वर्ण आकाश में सदा वर्तमान रहने से नित्य है, पर पद वाक्य उच्चारण की परम्परा कभी न टूटने के कारण नित्य माने गए हैं।

व्याकरण शास्त्र में भी जो शब्द–नित्यता की बात कही गई है, उसका भी आशय पद–स्फोट आदि से है, जो कि अन्तःकरण वृत्ति रूप है[4]। वहाँ भी बाहरी दुनियाँ में अवस्थित किसी वर्ण–समूह रूप पद की नित्यता से आशय नहीं है। इसे खण्ड के अन्तिम परिच्छेद में विस्तार से निरूपित किया जावेगा।

---

१. वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययन–पूर्वकम्।
वेदाध्ययनसामान्यादधुनाध्ययनं यथा।। – श्लोक वार्तिक, वाक्याधिकरण १.१.६

२. परमात्मनो नित्यस्य वेदानां योनेरपि न तेषु स्वातन्त्र्यं, पूर्वपूर्वसर्गानुसारेण तादृशतादृशानुपूर्वीविरचनात्। – ब्र.सू. १.१.३ पर भामती।

३. तथा च वर्णपदवाक्य–समुदायस्य वेदस्य वियदादिवत् सृष्टिकालीनोत्पत्तिमत्त्वं प्रलयकालीन–ध्वंसप्रतियोगित्वं च। – वेदान्त परिभाषा आगमपरिच्छेद पृ. २४१

४. सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे– महाभाष्य पस्पशाह्निक में कात्यायन वार्तिक–१
'तत्र नित्यः शब्दो जातिस्फोट–लक्षणो व्यक्तिस्फोटलक्षणो वा।
–उक्त वार्तिक पर प्रदीप टीका।

५. शब्द आकाश में समवेत अनित्य, अव्यापी गुण है।

—न्यायशास्त्र

न्यायशास्त्र के अनुसार आकाश में समवाय अर्थात् नित्य सम्बन्ध से रहने वाला तथा श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण किया जाने वाला विशेष गुण शब्द होता है। यही इसका लक्षण अथवा पहचान भी है[१]। क्योंकि केवल आकाश में समवेत विशेष गुण अथवा श्रोत्र से ग्राह्य विशेष गुण शब्द के अलावा और कोई नहीं हो सकता।

शब्द के आकाशाश्रयत्व की सिद्धि—शब्द के आकाश में समवाय सम्बन्ध से रहने की सिद्धि परिशेषानुमान से की जाती है। इसके लिये पहले इसे 'विशेष गुण' सिद्ध किया जाता है— बहिरिन्द्रिय से ग्रहण किये गए पदार्थ गुण होते हैं। यद्यपि आँखों से गुण के अलावा द्रव्य तथा क्रिया का भी प्रत्यक्ष होता है। अतः परिष्कृत रूप से कहना होगा कि आँखों से ग्राह्य न होकर भी अन्य बाह्य इन्द्रिय से ग्राह्य पदार्थ स्पर्श आदि के समान अवश्य ही गुण होते हैं। शब्द भी इसी प्रकार का होने से अनिवार्यतः गुण है[२]।

शब्द के गुण सिद्ध होने पर न्याय के नियम के अनुसार इसका द्रव्य में समवेत होना सुनिश्चित है। पर यह स्पर्श वाले द्रव्य—पृथिवी, जल, तेज, वायु में नहीं रह सकता। क्योंकि यह गुण कारणगुणपूर्वक न होकर भी प्रत्यक्ष होता है[३]। इसका तात्पर्य यह है कि पृथिवी आदि अवयवी में गुण अपने समवायि कारणों के गुणों से उत्पन्न होते हैं। जैसे कपड़े में पीला रूप कपड़े के समवायि कारण तन्तु में पीत रूप गुण से उत्पन्न होता है। पर यह बिलकुल भी आवश्यक नहीं कि वीणा के तार से उत्पन्न होने वाला शब्द गुण उस तार के अवयव के गुण से उत्पन्न हुआ हो। अपितु स्थिति यह है कि पहले क्षण में निःशब्द तार के अवयव होने पर भी सीधे तार अवयवी में शब्द उत्पन्न हो जाता है[४]। इस प्रकार शब्द के कारण-गुणपूर्वक उत्पन्न न होने के कारण इसे पृथिवी आदि चार द्रव्यों में समवेत नहीं

---

१. श्रोत्रग्राह्यो गुणः शब्दः। आकाशमात्रवृत्तिः। —तर्क संग्रह।

२. शब्दो गुणः चक्षुर्ग्रहणायोग्य— बहिरिन्द्रियग्राह्यजातिमत्त्वात् स्पर्शवत्। — कारिकावली, प्रत्यक्ष खण्ड, श्लोक ४४ पर मुक्तावली।

३. शब्दो न स्पर्शवद्विशेष—गुणः, अकारण—गुणपूर्वक—प्रत्यक्षत्वात्, सुखवत्। —वहीं पर मुक्तावली

४. स्वावयवशब्दसजातीयः शब्दो भेर्यादौ नोपलभ्यते, निःशब्दैरपि भेर्याद्यवयवैर्भेर्याद्यारम्भात्। — वैशेषिक सूत्र २.१.२५ पर विवृति।

माना जा सकता।

यह शब्द दिशा, काल तथा मन का भी गुण नहीं हो सकता। क्योंकि यह न्याय की सुनिश्चित परिभाषा के अनुसार 'विशेष' गुण है[१]। पर दिशा आदि में सामान्य गुण ही समवेत होते हैं। यह आत्मा का भी गुण नहीं हो सकता। क्योंकि आत्मा के गुण अन्तरिन्द्रिय मन के द्वारा गृहीत होते हैं। जबकि इसका प्रत्यक्ष श्रोत्र नामक बहिरिन्द्रिय से होता है[२]।

अब बचता है केवल आकाश! अतः इसका इस परिशिष्ट आकाश द्रव्य में समवेत होना सुनिश्चित सिद्ध होता है।

शब्द आकाश की पहचान भी है– न्याय ग्रन्थों में इस शब्द को आकाश का लिंग अथवा पहचान बताया गया है[३]। क्योंकि शब्द नामक गुण किसी द्रव्य के आश्रय के बिना रह ही नहीं सकता। उपरिलिखित रीति से पृथिवी आदि ८ द्रव्य उसके आश्रय बन नहीं सकते। अतः शब्द को आधार प्रदान करने वाले के रूप में आकाश के अस्तित्व की सिद्धि होती है।

यह ध्यान देने योग्य है कि न्याय में अवकाश प्रदान करने वाले के रूप में आकाश का अस्तित्व प्रायः मान्य नहीं है। वैशेषिक सूत्र में कमरे से घुसना, निकलना इत्यादि क्रियाओं के बनाने के लिये आकाश को सिद्ध करने का उपक्रम किया है[४]। पर अगले ही सूत्रों में इसका खण्डन किया है। उसका संक्षिप्त आशय यह है कि पक्षियों को उन्मुक्त उड़ने के लिये किसी अतिरिक्त भावरूप आकाश की आवश्यकता नहीं। उनके किसी पहाड़ आदि से टकराने पर आकाशाभाव को भी कारण नहीं मान सकते। क्योंकि आकाश के विभु होने के कारण वह पहाड़ आदि सभी घनी वस्तुओं में भी समान रूप से परिव्याप्त है। अगर ऐसा नहीं मानेंगे तो आकाश की विभुता पर आघात होगा। अतः मानना होगा कि पक्षी आदि के मूर्त पदार्थ से संयोग के कारण उसके वेग गुण आदि में प्रतिबन्ध आने से उड़ना क्रिया का विघात होता है, आकाशाभाव के कारण नहीं[५]।

---

१. शब्दो न दिक्कालमनसां गुणः विशेषगुणत्वात्, रूपवत्। –पूर्वोक्त पर मुक्तावली।
२. नाऽऽत्मविशेषगुणः बहिरिन्द्रिययोग्यत्वात्, रूपवत्। –वहीं पर मुक्तावली।
३. शब्दगुणमाकाशम्... शब्दलिंगकञ्च। –तर्कभाषा में प्रमेयनिरूपण पृ. १८६
परिशेषाल्लिंगमाकाशस्य। –वैशेषिक सूत्र २.१.२७
४. निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिंगम्। –वैशेषिक सूत्र २.१.२०
५. मूर्तसंयोगेन कर्मकारणस्य वेगुगुरुत्वादेः प्रतिबन्धात् कर्मणोऽभावोऽनुत्पादो, न त्वाकाशाभावात्, तस्य व्यापकत्वात्, तस्मादाकाशान्वयोऽन्यथासिद्ध एव नाकाशनिमित्ततां साधयति। –वै. सू. २.१.२३ पर उपस्कार व्याख्या।

इससे सिद्ध है कि 'अवकाश' इस आकाश की पहचान नहीं बन सकता। अपितु शब्द गुण वाला होना ही इसका सुस्पष्ट लक्षण है।

शब्दोत्पत्ति के विभिन्न कारण– न्याय शास्त्र में शब्द के उत्पन्न होनें के कारणों का विस्तार से निरूपण किया जाता है। सभी प्रकार के शब्दों के लिये आकाश समवायि–कारण है, यह तो उपरिलिखित विवेचन से प्रकट है। पुनः असमवायिकारण तथा निमित्तकारण के रूप में संयोग, विभाग तथा शब्द को स्वीकार किया जाता है[1]।

जैसे घण्टा में किसी दण्ड के प्रहार से शब्द उत्पन्न होते समय वेग गुण से परिपूर्ण दण्ड का घण्टा के साथ संयोग निमित्त कारण है। इस प्रकार यह संयोग तथा दण्डगत वेग दोनों निमित्त हैं[2]। साथ ही यहाँ घण्टा तथा आकाश के संयोग को असमवायिकारण माना गया है। यहाँ प्रकम्पित घण्टा का आकाश के साथ संयोग– यह तात्पर्य है। क्योंकि सामान्य घण्टा का आकाश–संयोग तो प्रहार से पूर्व भी था ही।

इस प्रकार स्पष्ट है कि शब्दोत्पत्ति में दण्डघण्टा–संयोग से उत्पन्न घण्टा में प्रकम्पन भी निमित्त कारण है। न्यायवात्स्यायन भाष्य में इसे सहज ही स्वीकार किया गया है। वहाँ कहा है कि घण्टा को हाथ से छूने से उसका कम्पन तथा शब्द भी बन्द हो जाता है। इससे अनुमानित है कि उस दशा में घण्टा में कम्पन उत्पन्न करने वाला संस्कार नष्ट हो जाता है। इससे कम्पन का विनाश होने पर अन्ततः शब्द का भी विनाश हो जाता है[3]।

किसी घण्टा में प्रकम्पन एक ऐसी घटना है, जिसमें दण्ड प्रहार से उत्पन्न क्रिया–सन्तान सचल बाण के समान सीधी दिशा में नहीं, अपितु जल्दी जल्दी परस्पर विरोधी दिशा में प्रवर्तित होता रहता है। इस प्रक्रिया में वेग नामक संस्कार स्थितिस्थापक संस्कार में तथा शीघ्र ही यह स्थिति–स्थापक पुनः वेग में बार२ बदलते हुए विपरीत दिशाओं में क्रियाएँ उत्पन्न करता रहता है। पर हाथ से छूने से यह प्रकम्पन रुक जाता है। भाष्यकार ने बताया कि काँसे की प्रकम्पित थाली को छूने पर सहज ही त्वचा से इसका अनुभव किया जा सकता है। इससे

---

१. संयोगाद् विभागाच्छब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः। —वै. सू. २.२.३१

२. भेरीदण्डसंयोगो दण्डगतश्च वेगो निमित्तकारणम्। —न्यायकन्दली शब्दनिरूपण पृ. ६६४

३. पाणिकर्मणा पाणिघण्टाप्रश्लेषो भवति। तस्मिंश्च सति शब्दसन्तानो नोपलभ्यते, तत्र प्रतिघाति–द्रव्यसंयोगः शब्दस्य निमित्तान्तरं संस्कारभूतं निरुणद्धीत्यनुमीयते। तस्य च निरोधात् शब्दसन्तानो नोत्पद्यते। — न्यायसूत्र २.२.३६ पर वात्स्यायन–भाष्य।

सिद्ध है कि छूने से इस प्रकम्पन को उत्पन्न करने वाला संस्कार-सन्तान विनष्ट हो जाता है। इस प्रकार शब्दोत्पत्ति में घण्टा का कम्पसन्तान सीधा निमित्तकारण है। पर संस्कार-सन्तान निमित्तान्तर अथवा परम्परा से शब्द का निमित्तकारण बनता है[1]।

मुख से शब्दोत्पत्ति के प्रसंग में भी उपरिलिखित गुण ही निमित्त कारण हैं। इस समय प्रकम्पित कण्ठ, तालु आदि स्थानों का आकाश के साथ संयोग असमवायिकारण है। इन स्थानों का प्रयत्न नामक गुण से प्रेरित तथा अभिहत वायु के साथ संयोग निमित्त कारण है। इस संयोग से आकाश में अक्षर उत्पन्न हो जाते हैं।

कुछ शब्द विभाग नामक गुण से उत्पन्न होते हैं। जैसे- बाँस के फाड़ने पर चट् चट् की आवाज। इस शब्द की उत्पत्ति में बाँस के दो खण्डों में उत्पन्न 'विभाग' गुण निमित्त कारण हैं तथा इस विभाग के फलस्वरूप विभक्त बाँस का आकाश से विभाग असमवायिकारण है।

इसी प्रकार पवर्ग अक्षरों की उत्पत्ति में उत्तरोष्ठ तथा अधरोष्ठ का विभाग निमित्तकारण है तथा विभक्त ओष्ठ का आकाश से विभाग असमवायिकारण बनता है।

शब्दज शब्द- उपरिलिखित दोनों उपायों से प्रकम्पित घण्टा आदि से तत्संयुक्त आकाश में शब्द उत्पन्न होता है। पर प्रश्न होता है कि इस घण्टा का शब्द अन्य स्थानों में श्रोता को किस प्रकार उपलब्ध होता है। इसका उत्तर 'शब्दज शब्द' नामक विशेष प्रक्रिया के द्वारा दिया जाता है। इसके अनुसार पवन आदि की सहायता से दसों दिशाओं में शब्द से निरन्तर नए२ शब्द उत्पन्न होते हुए अन्त में श्रोता के कान तक पहुँच जाते हैं।

इस प्रक्रिया में वायु अवश्य ही निमित्तकारण है। क्योंकि यह देखा गया है कि शब्द के अनुकूल वायु की ओर अधिक शब्द सुनाई देता है, प्रतिकूल वायु की ओर कम। यह वायु की सहायता से ही सम्भव है। अतः मान्य है कि प्रकम्पित घण्टा से आकाश में शब्दोत्पत्ति के समकाल ही घण्टासमीपस्थ वायु गतिशील होकर शब्दज शब्द को आगे बढ़ाती रहती है।

इस प्रक्रिया में प्रकम्पित घण्टा से आकाश में दसों दिशाओं में शब्द उत्पन्न

---

१. कम्पसन्तानस्य स्पर्शनेन्द्रियग्राह्यस्य चोपरमः कांस्यपात्रादिषु पाणिसंश्लेषो लिंगं संस्कार-सन्तानस्येति। तस्मान्निमित्तान्तरस्य संस्कारभूतस्य नानुपलब्धिरिति। — वहीं पर भाष्य

होने के पश्चात् पूर्व २ शब्द से अन्य अन्य शब्द उत्पन्न होते रहते हैं। यह अवधारणा इस मान्यता पर अवलम्बित है कि शब्द क्षणिक होता है। इसकी क्षणिकता का अर्थ 'तीसरे क्षण विनष्ट होने वाला' यह है[1]। इस प्रकार बार२ उत्पन्न तथा नष्ट होते हुए यह तरंगरूपता को धारण करता है। तरंग उसे ही कहा जाता है कि जब किसी वस्तु की दो विरोधी स्थितियाँ एक निश्चित समय में बार२ एक दूसरे का स्थान ग्रहण करें। यहाँ शब्दज शब्द इसी प्रकार का होने से तरंग है। न्यायशास्त्र में इसकी तरंग–रूपता को दो उदाहरणों से प्रकट किया जाता है—

I वीचीतरंगन्याय– यह देखा गया है कि किसी स्थिर जल वाले तालाब में पत्थर फेंकने पर उसके चारों ओर छोटी तरंग बनती हैं। इसके द्वारा इसके भी चारों ओर उससे बड़ी तरंग तथा उसके पश्चात् उससे भी बड़ी२ गोलाकार तरंगें क्रम २ से बनती जाती हैं। इस समय पानी में एक निश्चित समयावधि के भीतर फेंके गए पत्थर के चारों ओर 'श्रृंग' तथा 'गर्त' ये दो आकार क्रम२ से उत्पन्न होते रहते हैं। शब्दोत्पत्ति में भी यही परिस्थिति होने से इसे इस न्याय का नाम दिया गया है[2]। यहाँ 'वीची' का अर्थ छोटी तरंग है। इसके द्वारा बड़ी तरंग बनने से इस न्याय का यह नाम सार्थक है।

शब्दज–शब्द की प्रक्रिया में प्रकम्पित घण्टा के चारों ओर तत्संयुक्त आकाश में जो शब्द बनते हैं, उनसे नवीन शब्द की 'उत्पत्ति' तथा 'विनाश'– इन दो रूपों में पहले वीची सदृश छोटी तरंग तथा उससे बड़ी और बड़ी तरंगें क्रमशः बनती चली जाती हैं। ये पूर्वोक्त परिभाषा के अनुरूप होने से तरंग कही जाती हैं। जिस प्रकार तालाब में फेंके गए पत्थर के चारों ओर प्रकम्पित पानी में दो अलग२ आकारों के क्रमशः धारण करने के कारण वे तरंग हैं, उसी प्रकार यहाँ भी घण्टे के चारों ओर एक निश्चित समयावधि के भीतर शब्द के दो आकारों के धारण करने से ये शब्द–तरंगें कही जाती हैं।

पर इनमें पानी की तरंगों से एक विभेद अवश्य है। तालाब में जो तरंगें बनती हैं, उनमें जलरूपी माध्यम स्वयं उत्पन्न नष्ट नहीं होते हुए अपनी मध्यमान स्थिति में प्रकम्पित होता है। उसके श्रृंग तथा गर्त नामक दो आकार क्रमशः उत्पन्न–नष्ट होते हुए आगे, और आगे संचरित होते रहते हैं। पर शब्द–तरंगों में शब्द स्वयं दो आकारों को धारण करते हुए आगे बढ़ता है। यह किस प्रकम्पित

१. क्षणिकत्वं च तृतीयक्षणवृत्तिध्वंस–प्रतियोगित्वम्।
— कारिकावली प्रत्यक्ष खण्ड श्लोक २७ पर मुक्तावली।

२. वीचीतरंगन्यायेन तदुत्पत्तिस्तु कीर्तिता।
— कारिकावली श्लोक १६६

माध्यम में संचरण करता है, इसे यहाँ नहीं बताया जा सकता। क्योंकि शब्द क्रा आश्रय आकाश नित्य होने से कदापि प्रकम्पित नहीं हो सकता। इस-प्रकार स्पष्ट है कि यहाँ तरंग की सम्पूर्ण मौलिक अवधारणा से केवल आंशिक तुलना ही हो सकती है।

पर इन शब्द–तरंगों के निमित्त कारण वायु–तरंगें पूरी तरह जल–तरंगों के सदृश हैं। क्योंकि यहाँ प्रकम्पित वायु के अणुओं में बनने वाले 'घन' तथा विरल' रूप उत्पन्न, नष्ट होते हुए बड़े तथा उससे भी बड़े गोलाकारों में आगे और आगे संचरण करते चले जाते हैं[1]।

वायु–तरंगों का यह निरूपण न्याय के एक सम्प्रदाय के अनुसार है। पर सामान्यतः न्याय के विद्वान् वायु का तिर्यग्गमन स्वीकार करते हुए उनमें ऐसी गोलाकार तरंगें नहीं मानते[2]। उनका कहना है कि जब तक वायु किसी अन्य वेग से प्रेरित न हो तब तक वह अपनी नैसर्गिक तिर्यग्गति को नहीं छोड़ती[3]। इस प्रकार इस मत में वायु–तरंग नहीं, अपितु वायु की तिर्यग्गति ही शब्दज शब्द को .आगे बढ़ाने में मिमित्त कारण .है।

II <u>कदम्ब–गोलक न्याय</u>– कदम्ब–पुष्प के मध्य में पराग के चारों ओर छोटी२ पंखुड़ियाँ होती हैं। पुनः उसके भी चारों ओर उससे भी बड़े गोलाकार में इससे बड़ी पंखुड़ियाँ वर्तमान रहती हैं। इसी प्रकार शब्द भी घण्टे के चारों ओर उत्पन्न नष्ट होते.हुए क्रमशः बडे तथा उससे भी बड़े गोलाकार को धारण करता रहता है[4]।

इस अन्य न्याय का वर्णन एक मत–विभेद को प्रकट करने के लिये है। यहाँ यह देखा गया है कि कदम्ब–पुष्प के एक गोलाकार में अनेक पंखुड़ियाँ होती हैं। इसी प्रकार इस मत में मान्य है कि घण्टे के चारों ओर उत्पन्न होने वाले छोटे शब्द–गोलाकार में अनेक शब्द तथा इससे भी बड़े२ गोलाकारों में अनेकानेक शब्द उत्पन्न होते हैं। जबकि पिछले न्याय में यह माना गया था कि एक शब्द–गोलाकार

---

१. यह तथ्य इस वचन के आधार पर कहा गया है– प्रेरणादभिघाताच्च वायौ गतिकर्मविशेषः प्रादुर्भवति। ततो वेग उत्पद्यते। यावच्च वेगकारितो वीचीतरंगवद् गतिकर्मविशेषः प्रादुर्भवति, तावच्छब्दसन्तान उत्पद्यते। –वैशेषिक सूत्र २.१.६ पर चन्द्रकान्तीय भाष्य।

२. कदम्बगोलकाकारशब्दारम्भो हि सम्भवेत्। न पुनर्दृश्यते लोके तादृशी मरुतां गतिः।
– न्याय मञ्जरी, प्रमाण प्रकरण पृ० २०६ ।

३. यावन्न वेगिनाऽन्येन प्रेरितो मातरिश्वना। तावन्नैसर्गिको वायुर्न तिर्यग्गतिमुज्झति।
–वही पृ० २०६।

४. कदम्बगोलकन्यायादुत्पत्तिः कस्यचिन्मते। – कारिकावली श्लोक १६६

मं चारों ओर एक ही शब्द उत्पन्न होता है। विश्रुत नैयायिक विद्वानों ने इस कदम्ब–गोलक–न्याय में अरुचि दिखाई है। क्योंकि इस मत में एक ही गोलाकार में अनेक शब्द–कल्पना का गौरव होता है[१]।

शब्दज शब्द का क्रम— अभी शब्द को क्षणिक अर्थात् तृतीय क्षण में विनाश्य बताया गया है। विभु पदार्थों के विशेष गुण इसी प्रकार के होते हैं। अत एव आत्मा के ज्ञान, इच्छा आदि विशेष गुण भी क्षणिक हैं। अपनी परिभाषा के अनुसार शब्द नामक क्षणिक गुण प्रथम क्षण में उत्पन्न होता है, द्वितीय क्षण में स्थित रहता है, तृतीय क्षण में विनष्ट हो जाता है। यह विनाश द्वितीय क्षण में उत्पन्न कार्य शब्द के द्वारा होता है। अतः कहना होगा कि प्रथम क्षण में उत्पन्न शब्द का द्वितीय क्षण में उत्पन्न शब्द के द्वारा तृतीय क्षण में विनाश कर दिया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक शब्द–विनाश का स्वोत्तरवर्ती शब्द अर्थात् अपने से द्वितीय क्षण में उत्पन्न शब्द कारण बनता है[२]। इस प्रक्रिया में प्रत्येक क्षण में शब्द की घटनाओं का विवरण इस प्रकार है–

प्रथम क्षण – भेरी दण्ड संयोग आदि कारणों से प्रथम शब्द की उत्पत्ति।

द्वितीय क्षण – प्रथमक्षणोत्पन्न शब्द की स्थिति तथा इसके द्वारा अन्य शब्द की उत्पत्ति।

तृतीय क्षण – द्वितीयक्षणोत्पन्न शब्द की स्थिति तथा इसके द्वारा प्रथम क्षणोत्पन्न शब्द का विनाश तथा इसी के द्वारा अन्य शब्द की उत्पत्ति।

इस प्रकार प्रत्येक नए२ उत्पन्न होने वाले शब्द का जो प्रथम क्षण होता है, वही विनष्ट होने वाले शब्द का तृतीय क्षण होता है। द्वितीय क्षण वाला स्थितिकालीन शब्द इन दोनों कार्यों– प्रथम क्षण वाले नए शब्द की उत्पत्ति तथा तृतीय क्षण वाले शब्द का विनाश– इन्हें एक साथ सम्पन्न करता है।

इस क्रम से शब्द–तरंग बड़े तथा इससे भी बड़े गोलाकार धारण करती

---

१. आद्यशब्दाद् दशसु दिक्षु दश शब्दा उत्पद्यन्ते, ततश्चान्ये दश शब्दा उत्पद्यन्त इति भावः। अस्मिन् कल्पे कल्पनागौरवादुक्तं कस्यचिन्मत इति।

– कारिकावली श्लोक १६६ पर मुक्तावली पृ. ५४५

२. योग्यविभुविशेषगुणानां स्वोत्तरवर्तिविशेषगुणनाश्यत्वात्। प्रथम–शब्दस्य द्वितीय–शब्देन नाशः।

– कारिकावली, प्रत्यक्ष खण्ड श्लोक २७ पर मुक्तावली।

हुई आगे बढ़ती जाती है। पर आगे चलकर यह क्रम रुक जाता है। अतः प्रश्न होता है कि अन्तिम शब्द का विनाश किस प्रकार होता है। इसका समाधान इस प्रकार दिया जाता है–

इस समय उपान्त्य के द्वितीय स्थिति क्षण में अन्तिम शब्द के द्वारा ही उपान्त्य का नाश कर दिया जाता है। ध्यान रहे कि इस समय उपान्त्य शब्द प्रथम क्षण वाले शब्द का विनाश तो करता ही है। वह अन्य शब्द को उत्पन्न भी करता है। साथ ही किसी दीवाल आदि से अभिघात जैसी विशेष परिस्थिति में यही अन्य अन्तिम शब्द अपने उत्पत्ति क्षण में ही उपान्त्य का नाश कर देता है। इस प्रकार यहाँ तीन कार्य– उपान्त्य याने द्वितीय क्षण वाले शब्द द्वारा प्रथम क्षण वाले शब्द का विनाश, इसी उपान्त्य द्वारा नए शब्द की उत्पत्ति तथा ठीक इसी क्षण में इस नए उत्पद्यमान शब्द के द्वारा अपने जनक उपान्त्य का विनाश– ये सभी एक साथ सम्पन्न हो जाते हैं!

यहाँ कुछ लोग कहते हैं कि इसी क्षण में एक चौथा कार्य भी सम्पन्न होता है– सुन्दोपसुन्द–न्याय[1] से उपान्त्य के द्वारा अन्तिम उत्पद्यमान शब्द का विनाश भी हो जाता है। तर्कभाषाकार इसे गलत ठहराते हैं, जो कि सर्वथा उचित है। उनका कहना है कि अभी ऊपर कहा गया कि इस क्षण उपान्त्य द्वारा अन्तिम नया शब्द उत्पन्न किया जाता है। अब इसी क्षण यही उपान्त्य इसका विनाश कैसे करने लगा। आखिर एक क्षण में एक शब्द किसी एक वस्तु में एक ही प्रकार की क्रिया कर सकता है। अतः मानना होगा कि उपान्त्य के इस द्वितीय क्षण में उपान्त्य द्वारा अन्त्य शब्द की उत्पत्ति तथा साथ ही इसी अन्त्य उत्पद्यमान शब्द द्वारा उपान्त्य का विनाश तो होता है, पर इस क्षण में उपान्त्य द्वारा अन्तिम शब्द का विनाश नहीं होता। अपितु इससे अगले क्षण में उपान्त्य के विनाश के द्वारा अन्तिम शब्द का

---

१. यह सुन्दोपसुन्द न्याय एक पौराणिक कथा पर अवलम्बित है। कहते हैं कि सुन्द तथा उपसुन्द नाम के दो भाई थे। ये तीनों लोकों को जीतने की इच्छा से विन्ध्याचल पर तप करने लगे। इनकी तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्मा जी ने इन्हें वर दिया कि यदि ये आपस में न लड़ें तो इन्हें कोई मार न सकेगा। इस वर से उत्साहित होकर इन्होंने जनता में अत्याचार करना प्रारम्भ कर दिया। तब ब्रह्मा जी ने इन दोनों को लड़ाने के लिये तिलोत्तमा नाम की अतिसुन्दरी रमणी को भेजा। इसकी प्राप्ति के लिये दोनों आपस में लड़ने लगे। अन्त में सुन्द ने उपसुन्द का सिर धड़ से अलग कर दिया। तो भी उपसुन्द पीछे कैसे रहता। और तब शुरू हुआ कबन्ध–युद्ध!! नाचते हुए उपसुन्द के कबन्ध अर्थात् धड़ ने लड़ते हुए सुन्द का भी सिर अलग कर दिया!!!

विनाश किया जाता है[1]। ऐसा विशेष परिस्थिति में किया जाता है। विशेष स्थिति का यही तो कमाल है!!

<u>वायु निमित्त है, समवायि–कारण नहीं</u>– ऊपर कहा गया है कि शब्दज शब्द की इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में वायु निमित्त कारण के रूप में स्वीकार्य है। अतः वायु में ही नित्य सम्बन्ध से शब्द उत्पन्न नहीं हो सकता। इसे स्पर्श वाले सभी द्रव्यों की समवायिकारणता का प्रतिषेध करते हुए पहले सिद्ध किया जा चुका है।

फिर भी कभी२ शब्दज शब्द में यह सम्भावना प्रकट की जाती है कि वायु में ही समवाय सम्बन्ध से शब्द उत्पन्न होता है। क्योंकि यह हो सकता है कि पहले वायु के सूक्ष्म अवयवों में तथा बाद में उनसे महान् वायु में शब्द उत्पन्न होता हो। ऐसी दशा में प्रश्न होता है कि कारणगुणपूर्वक होने से वायु में ही शब्दोत्पत्ति क्यों न स्वीकार कर ली जाय। न्याय के विद्वान् अनेक उपायों से दृढ़ता के साथ इस सम्भावना का प्रतिषेध करते हैं। जैसे–

१. वायु के स्पर्श जैसे विशेष गुण यावद् द्रव्यभावी होते हैं। अर्थात् सम्पूर्ण वायु में नियमित रूप से समवेत होते हैं। पर शब्द नामक गुण ऐसा नहीं है। वह तो कहीं रहता है, कहीं नहीं। कभी उत्पन्न होता है तथा कभी विनष्ट भी हो जाता है। अतः इस विरोधी विशेषता के कारण यह वायु का गुण नहीं हो सकता[2]।

२. मुख नीचे करके बोलने पर शब्द ऊपर सुनाई देता है। ऊपर करके बोलने पर नीचे न सुनाई पड़े, ऐसा नहीं है। शब्द को वायु का गुण मानने पर उसके तिर्यग्गमन होने से यह सम्भव नहीं है। अतः शब्द वायु में समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न नहीं हो सकता[3]।

३. पेट में कान रखने पर 'गुड़ गुड़' शब्द सुनाई देता है। यहाँ पेट के चर्म से आवृत होने से वहाँ से वायु तो निकलती नहीं। अतः जैसे दीवाल आदि की

---

१. तत्राद्यमध्यमशब्दाः कार्यशब्दनाश्याः। अन्त्यस्तूपान्त्येन उपान्तस्त्वन्त्येन सुन्दोपसुन्दन्यायेन विनश्येते। इदं त्वयुक्तम्। उपान्त्येन, त्रिक्षणावस्थायिनोऽन्त्यस्य, द्वितीयक्षणमात्रानुगामिना तृतीयक्षणे चासताऽन्त्यनाशजननासम्भवात्। तस्मादुपान्त्यनाशादेवान्त्यनाश इति।

— तर्कभाषा, प्रमेयनिरूपण पृ. २०८

२. न च वाय्ववयवेषु सूक्ष्मशब्दक्रमेण वायौ कारणगुणपूर्वकः शब्द उत्पद्यतामिति वाच्यम्। अयावद्द्रव्यभावित्वेन वायोर्विशेषगुणत्वाभावात्।

— कारिकावली, प्रत्यक्षखण्ड श्लोक ४४ पर मुक्तावली।

३. अधोमुखप्रयुक्तोऽपि शब्द ऊर्ध्वं प्रतीयते।
उत्तानवदनोक्तोऽपि नाधो न श्रूयते हि सः।

— न्यायमञ्जरी पृ. २०६

रुकावट में हवा बाहर नहीं जाती, उसी प्रकार यहाँ भी शब्द के वायु का गुण होने की दशा में इस आवाज को बाहर नहीं जाना चाहिये। पर यहाँ इसके बाहर आने से सिद्ध है कि वायु इसका समवायिकारण नहीं हो सकती[1]। इस प्रकार सिद्धान्ततः यह केवल निमित्त कारण है। इसलिये सर्वत्र इसकी उपस्थिति अनिवार्य नहीं है। तेज हवा में यह शब्द को अपने अनुकूल भगाती है। पर पेट आदि का शब्द आकाशगुणक होकर इसकी सहायता के बिना भी शब्दज शब्द की प्रक्रिया से बाहर आ जाता है।

शब्द अनित्य तथा अव्यापक है– इस सम्पूर्ण विवेचन से सिद्ध है कि शब्द अनित्य होता है। इसीलिये इसे उपरिलिखित विविध उपायों से उत्पन्न करना पड़ता है। इसके लिये किसी विशेष प्रमाण की आवश्यकता नहीं। क्योंकि यह सभी को मुखादि प्रयत्नों से उत्पत्ति के पश्चात् अगले ही क्षण विनष्ट होता हुआ प्रत्यक्ष होता है।

यद्यपि अलग२ समयों में अलग२ व्यक्तियों द्वारा बोले गए 'क' आदि अक्षरों को लोग 'एक' ही कह दिया करते हैं। यह एकता जाति के आधार पर कही जाती है। जैसे लोग पहले गिलास के पश्चात् दूसरे गिलास वाले पानी को भी 'वही पानी' कहते हैं। शाम के बाद सुबह खाई जाने वाली ओषधि को भी 'वही ओषधि' कहते हैं। क्योंकि उनमें ओषधित्व जाति एक ही है। पर द्रव्य की दृष्टि से दोनों ओषधियाँ अलग२ हैं। इसे सामान्य लोग तथा न्याय के विद्वान् भी स्वीकार करते हैं[2]। ठीक इसी प्रकार 'कत्व' जाति की दृष्टि से वे अक्षर एक होकर भी द्रव्य की दृष्टि से वे सभी सर्वथा अनेक तथा अनित्य ही हैं।

इसी प्रकार यह शब्द अव्यापी भी है। क्योंकि एक जगह सुना गया शब्द अन्यत्र नहीं सुनाई देता। इसका आश्रय आकाश विभु या व्यापक है, यह स्वयं नहीं। यद्यपि अन्य विशेष गुण समूचे द्रव्य में परिव्याप्त होते हैं। पर यही तो इस शब्द की विशेषता है कि यह विशेष गुण होकर भी सर्वत्र व्याप्त नहीं होता। इसीलिये इसे सभी अन्य द्रव्यों से अलग आकाश का गुण माना गया है।

---

१. आकण्ठनद्धनीरन्ध्र–चर्मावृतमुखोदितः।
शब्दो यः श्रूयते तत्र न कोष्ठ्यानिल–सर्पणम्। –न्यायमञ्जरी पृ. २०९

२. तदेवौषधमित्यादौ सजातीयेऽपि दर्शनात्।
तस्मादनित्या एवेति वर्णाः सर्वे मतं हि नः।। –कारिकावली श्लोक १६८

६. ध्वनि–विषयक सिद्धान्तों का भाषा पर प्रभाव।

भारत में अतिप्राचीन काल से ध्वनि–विषयक विविध सिद्धान्तों पर निरन्तर विचार–विमर्श होता रहा है। इन सिद्धान्तों के आधार पर भाषा के अनेक शब्द विकसित होते रहे हैं। अतः भाषा रूपी दर्पण में इनकी छाया प्राप्त की जा सकती है। प्रस्तुत परिच्छेद में ऐसे कुछ शब्दों को प्रस्तुत किया गया है।

अक्षर–भाषा की सबसे छोटी इकाई अक्षर है। अन्य शब्दों में कहें तो यही वे छोटी२ ईंटें हैं, जिनसे मिलकर 'वाङ्मय' अथवा वाणी का विशाल महल निर्मित होता है। भारतीय मनीषा ने प्राचीन काल से यह स्वीकार किया कि इन छोटी 'ईंटों' का कभी विनाश नहीं होता। इसी मान्यता ने मीमांसा में सिद्धान्त का रूप प्राप्त किया। अतएव इन्हें सार्थक रूप से 'अक्षर' नाम प्रदान किया गया। इसका मौलिक अर्थ कभी 'क्षरित या विनष्ट न होने वाला' यही है[१]।

वर्ण– इन्हें 'वर्ण' भी कहा जाता रहा है। वैसे वेद में वर्ण शब्द का रंग अर्थ में अनेक बार प्रयोग हुआ है। निरुक्तकार ने भी इस अर्थ को माना है[२]। पर स्वयं निरुक्तकार ने अक्षर अर्थ में भी इसका प्रयोग किया है[३]। इसका कारण यही कि यह अक्षर रंग के समान किसी भी शब्द या वाक्य की पहचान बन जाता है। जिस प्रकार कोई कपड़ा अपने रंग के द्वारा पहचाना तथा अन्य कपड़ों से भिन्न किया जा सकता है। इसी प्रकार मात्र एक वर्ण सम्पूर्ण शब्द को पद और अर्थ दोनों दृष्टियों से भिन्न करने का सामर्थ्य रखता है।

महाभाष्य में एक रोचक प्रसंग में यह प्रश्न उठाया गया है कि ४–४ अक्षरों वाले कूप, सूप तथा यूप इन शब्दों में मात्र १–१ वर्ण बदलने पर कितने प्रतिशत अर्थ बदलना चाहिये। उन्होंने पहले गणित के नियम के आधार पर यह सम्भावना प्रकट की कि मात्र चौथाई अर्थ बदलना चाहिये। पर सिद्धान्त में उन्होंने यह माना कि समाज द्वारा प्रवर्तित शब्दार्थ के नियम गणित के नियमों से संचालित नहीं होते। अतः केवल एक अक्षर समूचे अर्थ को पूरी तरह बदल सकता है। इस प्रकार उन्होंने केवल एक वर्ण में सम्पूर्ण शब्द की अलग पहचान बना सकने के सामर्थ्य को सिद्ध किया है[४]।

---

१. अक्षरं न क्षरं विद्यात् – न क्षीयते, न क्षरतीति वाऽक्षरम्। –झभञ् सूत्र पर महाभाष्य।
२. कल्याणवर्णरूपः – कल्याणवर्णस्येवास्य रूपम्। – निरुक्त २.३
३. अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्। – निरुक्त २.१
४. द्रष्टव्य – ह्यवरट् सूत्र के महाभाष्य पर रोचक प्रकरण।

शब्द– इन अक्षरों से निर्मित सार्थक तथा प्रयोग में आने वाले घटकों को 'शब्द' नाम दिया गया है। ये शब्द ही सम्पूर्ण साहित्य को वाणी प्रदान करते हैं। अतः इनका यह नाम सार्थक है। पानी देने वाला होने से मेघ के लिये 'अब्द' के समान क्विबन्त शप् उपपद के साथ दा धातु से क प्रत्यय के द्वारा इसकी निर्मिति सम्भावित है।

पद– महावैयाकरण पाणिनि ने व्याकरण शास्त्र में पारिभाषिक रूप से इसे 'पद' नाम दिया है[1]। इनसे पूर्व निरुक्तकार यास्क ने भी इसके चार अंग बताते हुए इसके 'पद' नाम को स्वीकार किया है[2]। उन्होंने अन्य प्रसंग में कहा है कि गाय के चार पैरों के सादृश्य पर अन्य चार अंगों वाली वस्तुओं के चौथाई अंश को भी 'पद' कहा जाता है[3]। अतः यह सम्भावना बलवती है कि शब्द के भी चार अंग मान्य होने के कारण प्रत्येक को यह 'पद' नाम दिया गया होगा।

पदार्थ– बाद में चलकर विश्व की सभी वस्तुओं के लिये 'पदार्थ' नाम बहुत लोकप्रिय हुआ। न्याय शास्त्र में भी द्रव्य, गुण आदि विश्व के सभी ७ घटकों को एक पदार्थ नाम दिया गया[4]। यह शब्द पद तथा अर्थ के मेल से बना है। अतः इसका मौलिक तात्पर्य 'किसी शब्द का अर्थ' यही है।

शब्दानुवेध सिद्धान्त– सभी प्रकार की वस्तुओं के लिये इस तात्पर्य वाले पदार्थ का प्रयोग दर्शनशास्त्र के एक विशेष 'शब्दानुवेध' नामक सिद्धान्त को सूचित करता है[5]। इसके अनुसार प्रत्येक वस्तु तथा उसके ज्ञान के पीछे कोई न कोई शब्द अवश्य अनुविद्ध या जुड़ा हुआ रहता है। अन्य मनुष्य को किसी वस्तु का बोध कराने के लिये तो हम शब्द का प्रयोग करते ही हैं। साथ ही उस वस्तु या घटना को सोचने के लिये भी हम इसका उपयोग करते हैं। हम अपने स्वभावानुसार मन में पहले शब्द को लाए बिना किसी बात को सोच भी नहीं सकते ! इससे सिद्ध है कि शब्द से जुड़ कर ही किसी वस्तु का ज्ञान हमारे लिये सम्भव हो पाता है। इसे ही शब्दानुवेध कहते हैं।

---

१. सुप्तिङन्तं पदम्। – अष्टाध्यायी सूत्र १.४.१४

२. तद्यान्येतानि चत्वारि पदजातानि–नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च। – निरुक्त १.१

३. पशुपादप्रकृतिः प्रभागपादः। प्रभागपादसामान्यादितराणि पदानि। – निरुक्त २.७
सामान्य जन समाज में यह परिकल्पना बहुत लोकप्रिय हुई। अतः पदांश से 'पैसा' तथा पदोन से 'पौना' शब्द विकसित हुआ।

४. धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्। : वैशेषिक सूत्र १.१.४

५. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते। – वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, श्लोक १२३

पदार्थ शब्द से इस सिद्धान्त की सूचना भी मिलती है कि विश्व में पहले पद आता है। उसके पश्चात् उसके अर्थ के रूप में पदार्थ या वस्तु का अस्तित्व होता है। वैसे सामान्य मनुष्य का सोच इससे भिन्न होता है। उनके अनुसार तो पहले वस्तु आती है– पहले पुत्र–जन्म होता है। बाद में उनका नाम रखते हैं।

पर यहाँ ऋषियों का आशय यह है कि विद्वानों के वैदुष्य तथा दूरदर्शिता से किसी वस्तु, उसके नाम तथा उसकी प्रक्रिया को सोच लेने के पश्चात् ही वस्तु उत्पन्न हो पाती है। विमान शब्द के द्वारा पक्षी (वि) के सदृश (मान) बनने की इच्छा से हवाई जहाज बनता है तथा 'आकाशवाणी' जैसे शब्दों के द्वारा ध्वनि को दूर पहुँचाने के अदम्य विचार से टेलीफोन बनता है!! इस तथ्य का संकेत इस श्लोक में किया गया है–

लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते।

ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति।

—उत्तररामचरितम् १.१०

अर्थात् सामान्य मनुष्यों की वाणी वस्तु के पीछे चलती है। पर पारदृश्वा विद्वानों की वाणी के पीछे वस्तु दौड़ती है। सचमुच, इस दृष्टिकोण से सभी वस्तुएँ सही मायने में 'पदार्थ' बनती हैं!

श्रोत्र तथा कर्ण– दर्शनशास्त्र में इस शब्द को सुनने के लिये श्रोत्र इन्द्रिय के रूप में स्वीकार किया गया है। यह 'कर्ण' से सर्वथा भिन्न है। वैदिक काल से ही इस विभेद को भली प्रकार समझा जाता रहा है। अथर्ववेद का एक सुन्दर मन्त्र इस प्रकार है–

वाङ्म असन् नसोः प्राणः चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः। अपलिता केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम्।

—अथर्ववेद १९.६०.१

अर्थात् मेरे जीवन के सौ वर्षों तक मुख में वाणी हो, नासिका में प्राण हों अक्षि में चक्षु हो, कानों में श्रोत्र हो। मेरे सिर के बाल गंजे न हों, मेरे दाँत मैले न हों मेरी भुजाओं में खूब पराक्रम हो!!

यहाँ स्पष्टतः कानों में श्रोत्र रहने की प्रार्थना है। अतः ये दोनों भिन्न हैं। दर्शन की परिभाषा के अनुसार कानों से परिसीमित आकाश श्रोत्र होता है। इस प्रकार कान तो केवल डिब्बा अथवा निवास स्थान है। इसमें रहने वाली इन्द्रिय श्रोत्र है, जिससे हम सुनते हैं।

पर बाद में, लगता है कि हिन्दी तथा संस्कृत में भी इन दोनों शब्दों के अर्थ में घालमेल हो गया। इसलिये संस्कृत में 'आकर्णयति' का अर्थ सुनना होता है तथा हिन्दी में कर्ण से विकसित 'कान' शब्द श्रवणेन्द्रिय का सूचक माना जाता है।

शुश्रूषा– प्राचीन काल में माना गया कि भली प्रकार सुनना सेवा का सबसे बढ़िया उपाय है। कोई सेवक मालिक की बात को ध्यान लगाकर सुनकर ही अच्छी सेवा कर सकता है। इसीलिये संस्कृत में सुनने अर्थ वाली 'श्रु' धातु से निर्मित 'शुश्रूषा' 'शुश्रूषते' आदि शब्द 'सेवा करना' अर्थ को प्रकट करने लगे।

श्रवण– उपनिषदों में भी भलीभाँति सुनने को ही ध्यान का प्रथम चरण माना गया है। इसीलिये वहाँ 'निदिध्यासन' अर्थात् ध्यान लगाने की इच्छा से पहले मनन तथा उससे भी पहले 'श्रवण' की बात कही जाती है[1]।

श्रोत्रिय– भली प्रकार सुनने योग्य होने से वेद को 'श्रुति' कहा गया तथा जो वेदपाठी इसके प्रति भली प्रकार कान लगाता है, उसे 'श्रोत्रिय' शब्द से सम्बोधित किया गया। पाणिनि के एक सूत्र के अन्तर्गत व्याख्याकारों ने 'छन्दस्' के स्थान में श्रोत्र आदेश करते हुए बड़े प्रयत्न से निपातन द्वारा इसे सिद्ध किया है[2]। पर यहाँ इस भावना को मानने पर 'श्रोत्रं ददाति' अर्थात 'कान लगाता है' इस अर्थ में श्रोत्र शब्द से ही आसानी से सिद्ध किया जा सकता है।

श्रावक– बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार भी भली प्रकार सुनना किसी छात्र की सबसे बढ़िया पहचान है। इसीलिये वहाँ शिष्य को 'श्रावक' कहा जाता है।

इन सब शब्दों से प्रकट है कि भली प्रकार सुनने को सेवा करना, ध्यान लगाना आदि का पहला चरण माना जाता रहा है!!

---

१. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। –बृहदारण्यक उपनिषद् २.४.५

२. श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते। – अष्टाध्यायी सूत्र ५.२.८४

छन्दसो वा श्रोत्रभावः, तदधीत इति घंश्च प्रत्ययः। – उक्त सूत्र पर काशिका।

७. ध्वनि पर दार्शनिकों का गोलमेज सम्मेलन।

पिछले परिच्छेदों में विभिन्न दर्शन–सम्प्रदायों के प्रमुख ध्वनि–सिद्धान्तों की चर्चा की गई है। स्पष्टतः ये सभी इस विषय में एकमत नहीं हैं, अपितु अनेक स्थानों पर परस्पर गम्भीर मत–भेद रखते हैं। अतः यह स्पष्ट होना जरूरी है कि इनका विरोध कहाँ तथा किन कारणों को लेकर है। इसके लिये यहाँ सभी दार्शनिकों को एक साथ उपस्थित करा कर उनके प्रमुख मत–विभेदों को प्रस्तुत किया जा रहा है–

न्याय– शब्द स्वयं अनित्य तथा अव्यापी होते हुए नित्य तथा विभु आकाश का गुण है। अतः यह ऐसे नित्य आकाश में नित्य समवाय सम्बन्ध से रहता है। वास्तव में आकाश की पहचान इसके शब्द गुण के द्वारा ही हो पाती है। इसीलिये आकाश को शब्द–लिंगक कहा जाता है[1]।

जैन– यह कहना सही नहीं कि शब्द आकाश का गुण है। आकाश तो अवकाश प्रदान करने के लिये है। उसमें विश्व की हर वस्तु रहती है। अतः आप आकाश को केवल शब्द का आश्रय किस प्रक़ार बता सकते हैं।

मीमांसक– आप न्याय के विद्वान् कहते हैं कि शब्द आकाश की पहचान है। पर वह शब्द अव्यापी है– कहीं रहता है, कहीं नहीं। कभी रहता है, कभी नहीं। यह कैसी पहचान हुई। क्या यह हो सकता है कि अग्नि की पहचान बनने वाला उष्ण गुण आग के किसी भाग में रहे, कहीं नहीं। अतः मानना होगा कि विभु आकाश में रहने वाला गुण भी सर्वव्यापक है।

न्याय– यदि यह शब्द सर्वव्यापक है तो हर जगह उपलब्ध क्यों नहीं होता।

मीमांसक– वह तो प्रत्येक जगह अभिव्यक्त न होने से उपलब्ध नहीं होता। पर आप पर इससे उल्टा प्रश्न है कि यदि यह शब्द अव्यापक है तो वह घण्टा आदि देश से अन्य जगह किस प्रकार उपलब्ध होता है।

न्याय– वह तो शब्दज–शब्द प्रक्रिया से आगे चलकर श्रोता के कानों तक पहुँच ज़ाता है।

---

१. शब्दगुणमाकाशम् –एकं विभु नित्यञ्च। शब्दलिंगकञ्च।

– तर्कभाषा प्रमेयनिरूपण पृ. १८६

मीमांसक– आपकी शब्दज शब्द प्रक्रिया बहुत गड़बड़ है। आप कहते हैं कि पहला शब्द दूसरे शब्द को उत्पन्न करता है तथा दूसरा शब्द तीसरे क्षण में पहले शब्द को विनष्ट करता है। ऐसा करते समय वह कोई क्रिया करता है या नहीं, उस क्रिया की उत्पत्ति के लिये उसमें कोई वेग गुण कार्य करता है या नहीं? सब जानते हैं कि पहले तिनके की आग दूसरे तिनके में क्रियायोग द्वारा आग लगाती है। पहला डब्बा दूसरे डब्बे को वेग द्वारा चलनशील बनाता है[1]। पर आपके शब्द के गुण होने से उसमें कोई क्रिया, कोई वेग रह ही नहीं सकता। फिर वह अन्य शब्द की उत्पत्ति–विनाश का कारण कैसे बना। यदि कोई बिना कुछ किये ही अस्तित्व मात्र से किसी फल का कारण बन जाय, तो दुनियाँ का हर राजा अपनी अवस्थिति–मात्र से पूरी दुनियाँ को क्यों न जीतने लगे[2]! इससे सिद्ध है कि न्यायसम्मत शब्द के गुण होने के कारण उनकी शब्दज–शब्द प्रक्रिया असम्भव है।

शिक्षाशास्त्र– इसलिये यही मानना उचित है कि शब्द वायु–द्रव्य का अथवा ध्वनि के विशेष परमाणु–द्रव्यों का परिणाम है। इस प्रकार उसमें क्रिया तथा वेग बन जाने से वह अन्यत्र पहुँच सकेगा। इस प्रक्रिया के अनुसार भागते हुए वायु के अणु या ध्वनि–परमाणु जब घने हो जाते हैं तो शब्द के रूप में बदल जाते हैं। जैसे दूध घना होकर दही बन जाता है अथवा जैसे हवा से बादल घने हो जाते हैं, उसी प्रकार यहाँ भी है[3]। पुनः अगले क्षण उनका घनीभाव न रहने पर उनका शब्दभाव तिरोहित हो जाता है तथा ये पुनः वायुरूपता को धारण कर लेते हैं।

न्याय– नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता। क्योंकि बाह्य एक एक ज्ञानेन्द्रिय से ग्रहण किये जाने वाले पदार्थ अवश्य ही गुण होते हैं। जैसे त्वचा से ग्राह्य 'स्पर्श' अवश्य ही गुण है[4]। यहाँ यद्यपि त्वचा से द्रव्य का भी प्रत्यक्ष होता है। पर वह आँख से भी ग्राह्य होने से एक ज्ञानेन्द्रिय से ग्राह्य नहीं है। अतः हमारे उक्त कथन में अतिव्याप्ति नहीं है।

---

१. वीचीसन्तानतुल्यत्वमपि शब्दे सुदुर्वचम्।
मूर्तिमत्त्वक्रियायोगवेगादि –रहितात्मसु।। —न्याय मञ्जरी, प्रमाण–प्रकरण पृ. १६७—

२. संस्कृत में यह एक रोचक न्याय है–
यदि स्याद् वाक्यमात्रेण निर्जितेयं वसुन्धरा!

३. अभ्राणीव प्रचीयन्ते शब्दाख्या परमाणवः — वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, श्लोक १११

४. शब्दो गुणः जातिमत्त्वे सति बाह्येकैकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वात् रूपवत्।
— वैशेषिक सूत्र २.१.२४ पर उपस्कार।

इसके साथ ही, जो आँख द्रव्य का प्रत्यक्ष करती है वह द्रव्य के अन्य सामान्य गुणों– संयोग, विभाग आदि का प्रत्यक्ष भी अवश्य करती है। अब यदि आपकी मान्यता के अनुसार श्रोत्र शब्दाकार वायु–द्रव्य का प्रत्यक्ष करे तो यह उसके अन्य गुणों का प्रत्यक्ष क्यों नहीं करता। इससे सिद्ध है कि शब्द वायु रूप द्रव्य नहीं है।

जैन– सचमुच उक्त दोष के कारण शब्द वायु–रूप द्रव्य नहीं हो सकता। पर वायु में आश्रित 'पर्याय' तो हो ही सकता है। इस दशा में वायु के गतिशील होने पर श्रोता को वायु के साथ२ उसका 'पर्याय' शब्द भी उपलब्ध हो सकता है। इसीलिये वायु अनुकूल हो तो दूर का शब्द तथा वायु का स्पर्श भी एक साथ अनुभव में आता है। पर प्रतिकूल वायु में समीप का शब्द भी नहीं सुनाई पड़ता।

न्याय– यह भी सही नहीं है। क्योंकि वायु के सभी गुण 'यावद्–द्रव्यभावी' अर्थात् सम्पूर्ण वायु में सर्वत्र व्यापक होते हैं। पर शब्द इस प्रकार का न होने से वायु का गुण नहीं हो सकता।

सांख्य– वाह! क्या खूब! शब्द अव्यापक होकर वायु का गुण नहीं बन सकता। पर वह अव्यापक होकर व्यापक आकाश का लिंग बन सकता है!! किस प्रकार?

अच्छा आप यह बतावें कि आपके अनुसार घण्टा के प्रकम्पन से आकाश में शब्द उत्पन्न होता है। याने क्रिया हुई घण्टा में, पर शब्द उत्पन्न हो गया निष्क्रिय आकाश में! जिस घण्टा में प्रकम्पन से सक्रियता आई, वहाँ कुछ हुआ नहीं, पर जिस अधिकरण में कोई क्रिया नहीं हुई, वहाँ शब्द उत्पन्न हो गया!! यह किस प्रकार सम्भव है?

इसी प्रकार आपके अनुसार घण्टा को हाथ से छूने पर प्रकम्पन बन्द होने से आकाश में शब्द नष्ट हो जाता है। पर निमित्त कारण के नष्ट होने से समवायिकारण के गुणों का विनाश नहीं हुआ करता। कुम्हार के मृत होने से घड़े के गुणों का विनाश नहीं हो सकता। अतः आप यह बतावें कि घण्टा का प्रकम्पन बन्द होने से विरोधी अधिकरण में रहने वाले शब्द का किस प्रकार विनाश हो सकता है[1]।

---

१. यदि हि शब्द आकाशनिष्ठः स्यात् तदा हस्तसंयोगस्य घण्टास्थत्वेन वैयधिकरण्यं प्राप्तम्। वैयधिकरण्ये हि प्रतिघातिद्रव्यस्य हस्तादेरप्रश्लेषात् संयोगासम्भवात् शब्दोपरमो न स्यात्।
— न्याय सूत्र २.२.३८ के वात्स्यायन भाष्य पर प्रसन्नपदा पृ. १६१

इस प्रश्नों के समाधान के लिये मानना होगा कि शब्द घण्टा आदि में ही अवस्थित रहता है।

न्याय– पर शब्द घण्टा में रहेगा तो शब्द–सन्तान कैसे बनेगा। उसके बिना घण्टा में स्थित शब्द श्रोत्र में कैसे पहुँचेगा। क्योंकि घण्टास्थ रूप आदि गुणों का सन्तान नहीं देखा गया। इसी प्रकार घण्टास्थ शब्द का भी सन्तान नहीं बन पावेगा।

सांख्य– वह तो दूरस्थ फूल की गन्ध की तरह कानों तक चला जावेगा। जिस प्रकार फूल के पराग कण उड़कर नाक तक पहुँच कर उसके गन्ध की प्रतीति कराते हैं। उसी प्रकार प्रकम्पित घण्टा से शब्द वाले अणु उड़कर कान तक पहुँच कर शब्द–बोध कराते हैं।

न्याय– तब तो कान में शब्द गूँजना चाहिये। वह तुरन्त क्यों रुक ज़ाता है। घण्टा के प्रकम्पन बन्द होने पर उड़े हुए शब्द के अणु किस प्रकार विनष्ट हो जाते हैं। आपने यह प्रश्न हमसे पूछा था। पर ध्यान रहे यह समस्या आपके भी गले पतित होती है। साथ ही आपकी इस प्रक्रिया से शब्दसन्तान तो बनता नहीं। तो फिर शब्द का तारत्व मन्दत्व किस प्रकार बन सकेगा[1]।

वेदान्त– इसलिये मानना होगा कि शब्द श्रोत्र देश के पास नहीं, अपितु श्रोत्र ही शब्द के पास चला जाता है।

न्याय– पर श्रोत्र तो उपाधि से सीमित आकाश ही है। वह विभु, नित्य एव निष्क्रिय है। वह घण्टा समीपस्थ शब्द के पास किस प्रकार पहुँच सकता है।

वेदान्त– आपका शब्द भी तो निष्क्रिय है। वह शब्दज–शब्द की प्रक्रिया में बिना कोई क्रिया किये अन्य शब्द की उत्पत्ति विनाश में कारण किस प्रकार बन जाता है। आप कहते हैं कि जिस प्रकार अवयव तन्तु का निष्क्रिय रूप अवयवी पट के रूप को उत्पन्न करता है, वैसा ही यहाँ भी होता है। पर ध्यान रहे, यह भी आपका ही सिद्धान्त है। दूसरे वहाँ रूप के अधिकरण तन्तु में अवश्य ही क्रिया रहती है। पर यहाँ तो शब्द में भी, शब्द के अधिकरण आकाश में भी क्रिया नहीं रहती। फिर वह अन्य शब्द की उत्पत्ति विनाश में कारण में किस प्रकार बन जाता है।

१. यदा हि रूपादिसमानाश्रयः शब्दस्तदा रूपादिवदेव सन्तानहीनः स्यादित्येक एव स्यात्। एकस्य च शब्दस्य तीव्रत्वमन्दत्वादिभेदो नोपपद्यते।

– न्याय सूत्र २.२.३६ के भाष्य पर प्रसन्नपदा पृ. १६२.

वास्तव में आपने यह काल्पनिक नियम बनाया हुआ है कि विभु पदार्थों के उत्तरवर्ती गुण पूर्वगुणों के विनाश में कारण होते हैं। इस प्रकार आप ज्ञान को भी अनित्य बताते हैं, जो कि सर्वथा गलत है। ज्ञान सदा नित्य होता है। इसी प्रकार शब्द भी नित्य होता है।

न्याय– पर शब्द नित्य है तो वह सदा उपलब्ध क्यों नहीं होता।

मीमांसक– कोई भी पिण्ड आवरण में या अँधेरे में क्यों नहीं उपलब्ध होता। स्पष्ट है कि पिण्ड की अभिव्यक्ति के लिये आवरण का न होना आवश्यक है। इसी प्रकार यहाँ भी वायु से आवृत होने से शब्द उपलब्ध नहीं होता।

न्याय– पर कोई द्रव्य अन्य द्रव्य को रोककर ही उसके गुण को रोक सकता है। दीवाल गन्ध वाले कण को रोक कर ही उसकी गन्ध को रोकती है। पर यहाँ वायु आकाश को आवृत कर नहीं सकती। फिर वह उसके गुण शब्द को कैसे रोक सकती है?

वेदान्त– इस प्रकार का दोष तो आपके यहाँ भी है। क्योंकि आप यह भी मानते हैं कि कोई भी द्रव्य अन्य द्रव्य को क्रियाशील करके ही उसके गुणों को बदल सकता है। समवायिकारण को सक्रिय किये बिना उसके गुणों में कोई परिवर्तन लाना सम्भव नहीं है। आपकी शब्दज शब्द की प्रक्रिया में वायु आकाश को सक्रिय नहीं कर सकता। फिर वह उसके गुण शब्द की उत्पत्ति–विनाश में किस प्रकार निमित्त कारण बन जाता है। ध्यान रहे जिसके घर स्वयं शीशे के हों, वे दूसरे के घरों में पत्थर नहीं चलाया करते[1]!!

वैज्ञानिक– इस प्रकार वायु के निमित्त कारण द्वारा शब्द उत्पत्ति–विनाश रूप में तरंगित हो नहीं सकता। साथ ही आपके मतानुसार यह गुणरूपी शब्द अन्य द्रव्य को तरंगित कर नहीं सकता। आपका मानना है कि शब्द मूर्त द्रव्यान्तर का प्रेरक नहीं होता[2]। कुड्यादि द्रव्य तो उल्टे शब्द का विघात ही करते हैं। इस प्रकार टेलीफोन के डायफ्राम रूपी द्रव्य को तरंगित न कर पाने के कारण यह टेलीफोन किस प्रकार क्रियाशील हो सकता है?

---

१. न्याय में इस मुहावरे के अनुरूप श्लोक इस प्रकार है–
यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः।
नैकः पर्यनुयोक्तव्य स्तादृगर्थविचारणे। – तर्कभाषा अभावनिरूपण पृ. १२५

२. शब्द के गुणत्व की सिद्धि अथवा पौद्गलिकत्व निषेध में न्याय द्वारा एक हेतु प्रस्तुत है–
सूक्ष्ममूर्तद्रव्यान्तराप्रेरकत्वात्।
– स्याद्वादमञ्जरी श्लोक १४ पर अन्ययोगव्यवच्छेद टीका, पृ. १२६

वेदान्त– हमारी बात पूरी नहीं हुई थी कि वैज्ञानिक बोल पड़े। हमें कुड्यादि द्रव्य से शब्द के विघात पर भी प्रश्न करना है। आप अन्तिम शब्द विनाश के लिये भी दीवाल आदि के अभिघात को निमित्त कारण मानते हैं। हम पूछते हैं कि दीवाल शब्द के साथ किस सम्बन्ध से सम्बन्धित होकर उस शब्द में इतना सामर्थ्य ला देता है कि अन्तिम उत्पद्यमान शब्द ही उपान्त्य का विघात करने लगे! स्पष्टतः, आपके अनुसार इनमें कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। द्रव्य गुण का संयोग सम्बन्ध नहीं होता। दीवाल का आकाश के साथ संयोग सम्बन्ध अवश्य है। पर दीवाल का अभिघात आकाश में कोई विशेषता नहीं ला सकता। इस प्रकार जब दीवाल ने आकाश को सक्रिय करके प्रभावित ही नहीं किया तो उस समवेत शब्द में शब्द विनाश का सामर्थ्य कैसे आया? यह भी प्रश्न है कि उपान्त्य शब्द स्वयं विनष्ट होकर अन्तिम शब्द का विनाश किस प्रकार कर सकता है?

इन सबसे प्रकट है कि आपकी शब्दज शब्द प्रक्रिया सर्वथा असंगत एवम् असमीचीन है।

न्याय– पर आपके मत में शब्द विभु या सर्वव्यापक है तो अनेक अक्षर सर्वत्र एक साथ कैसे रह सकते हैं। जहाँ 'क' बैठा हुआ है, वहाँ 'ख' कैसे रह सकता है।

मीमांसक– आपके मत में भी तो असंख्य विभु आत्माएँ हैं। वे सर्वत्र एक साथ कैसे रह लेती हैं। पहले इसका जवाब दें। कृपया पुनः इस मुहावरे को याद करें कि जिसके घर स्वयं शीशे के हों, वे दूसरे के घरों में पत्थर नहीं चलाया करते।

न्याय– पर दुनियाँ भर में 'क' शब्द एक साथ हो कैसे सकता है। वह तो अलग २ लोगों से बोला जाता हुआ प्रत्यक्ष ही हमें उपलब्ध होता है।

मीमांसक– वह बोलने वाले तथा उसके मुख, ताल्वादि अभिव्यंजक के भेद से भिन्न प्रतीत होता है। वस्तुतः वह एक ही है।

न्याय– हम कहते हैं, वह एक नहीं है। अपितु समान जाति का होने से एक प्रतीत होता है। जैसे पूरी रात जलती हुई दीपकलिका समान जाति की होने से एक ही प्रतीत होती है।

मीमांसक– हम कहते हैं वह एक ही है। फिर भी उपाधि या अभिव्यंजक के भेद से भिन्न२ प्रतीत होता है। जैसे लोगों को अलग२ उपाधि के द्वारा घटाकाश छोटा तथा मठाकाश बड़ा अलग२ प्रतीत होता है।

न्याय– पर इस विवाद से कोई निर्णय तो हो नहीं पाया कि दूर स्थित घण्टा का शब्द कानों से किस प्रकार सुना जाता है।

बौद्ध– इसलिये मानना होगा कि न तो शब्द श्रोत्र के पास जाता है, न ही श्रोत्र शब्द के पास आता है। अपितु दोनों के अपनी२ जगह अवस्थित रहने पर भी, जैसे दूर स्थित चुम्बक की अवस्थिति मात्र से लोहे में क्रिया हो जाती है, उसी प्रकार घण्टा–शब्द की स्थिति मात्र से वह सुनाई पड़ जाता है[1]।

सभी दार्शनिक– वाह, वाह! तब तो आजकल टेलीफोन की क्या जरूरत! तब तो दुनियाँ भर के शब्द अपनी स्थिति मात्र से हर जगह सुनाई पड़ जावेंगे!!

---

१. चक्षुःश्रोत्रमनोऽप्राप्तविषयम् । — अभिधर्मकोश १.४३
यत्र रूपं दृश्यते, न तत्र तद्ग्राहकं चक्षुरिन्द्रियमस्ति, तत्र प्रमाणानुपलभ्यमानत्वात्। तत्राविद्यमानदेवदत्तादिवत्। यथा चक्षुः एवं श्रोत्रमपि वक्तव्यम्। — वहीं स्फुटार्था टीका।

८. अनुमानों की माया।

दर्शनशास्त्र में अनुमानों के प्रयोग से शब्द के विविध स्वरूप को सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है। क्योंकि यथार्थ बोध के लिये प्रत्यक्ष के पश्चात् सामान्यतः अनुमान को ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। न्याय शास्त्र में इसका सबसे अधिक उपयोग हुआ है। पर अन्य सम्प्रदाय भी इसमें पीछे नहीं हैं। अतः यहाँ विभिन्न दार्शनिकों द्वारा अनुमान के द्वारा साधित ध्वनि–विषयक पक्ष प्रतिपक्ष को प्रस्तुत किया जा रहा है–

न्याय– इस विश्व में ज्ञानेन्द्रियों से पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है। यह देखा गया है कि जिन पदार्थों का केवल एक ही ज्ञानेन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है, वे अवश्य गुण होते हैं। जैसे रूप का केवल चक्षु से या स्पर्श का केवल त्वचा से प्रत्यक्ष होने के कारण ये दोनों गुण हैं। इसी प्रकार शब्द का केवल श्रोत्र से प्रत्यक्ष होने के कारण वह भी अवश्य ही गुण है। प्रयोग है– *शब्द गुण है, जाति वाला होकर हम लोगों की केवल एकर बाह्य ज्ञानेन्द्रिय से ग्राह्य होने के कारण, रूप के समान*[1]।

जैन– न्याय का यह कथन ठीक नहीं। वस्तुतः शब्द पृथिवी, जल, वायु आदि पुद्गलों का एक पर्याय अथवा अवस्था है। यह इन पुद्गलों में कभी रहने तथा कभी न रहने से पौद्गलिक पर्याय के रूप में मान्य है। ज्ञानेन्द्रियों के विषय पुद्गल के गुण तथा पर्याय दोनों होते हैं। अतः प्रयोग होगा– *शब्द पौद्गलिक हैं, ज्ञानेन्द्रियों का विषय होने के कारण, रूपादि के समान*[2]।

न्याय– यह ठीक नहीं। यह शब्द पृथिवी आदि पुद्गलों का पर्याय नहीं माना जा सकता। क्योंकि यह आकाश में समवेत होता है। आकाश में रहने वाला गुण पृथिवी आदि का पर्याय किस प्रकार हो सकता है। अतः प्रयोग होगा– *शब्द पौद्गलिक नहीं, क्योंकि स्पर्श–शून्य द्रव्य उसका आश्रय है*[3]।

जैन– न्याय का हेतु वास्तव में हेत्वाभास है। क्योंकि यह शब्द वायु आदि के स्पर्श के साथर उपलब्ध होता है। ठण्डी हवा लगने के साथर उसका सी सी शब्द भी सुनाई पड़ता है। अतः स्पष्टतः स्पर्श–शून्य आकाश नहीं अपितु स्पर्श

---

१. शब्दो गुणः, जातिमत्त्वे सति अस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात्, रूपवत्।
– तर्कभाषा, प्रमेयनिरूपण पृ. १८७

२. पौद्गलिकः शब्दः, इन्द्रियार्थत्वात्, रूपादिवत्।
– स्याद्वादमञ्जरी श्लोक १४ पर अन्ययोगव्यवच्छेद टीका पृ. १२६

३. नास्ति पौद्गलिकः शब्दः स्पर्शशून्याश्रयत्वात्। – वही पृ. १२६

वाला वायु आदि द्रव्य ही शब्द का आश्रय है[1]।

शब्द के आकाशगुणत्व का भी आसानी से निवारण हो सकता है। क्योंकि हमारे प्रत्यक्ष के जो रूपादि विषय होते हैं, वे कभी भी आकाश के गुण नहीं होते। अतः प्रयोग होगा– *शब्द आकाश का गुण नहीं है, हमारे प्रत्यक्ष का विषय होने के कारण, रूपादि के समान[2]।*

वेदान्त– यहाँ यह कहना ठीक नहीं कि शब्द आकाश का गुण नहीं। क्योंकि प्रतिध्वनि आदि आकाश का गुण हो सकता है। अतः आकाश आदि सभी महाभूतों का शब्द गुण मानना श्रेयस्कर है। यहाँ न्याय के द्वारा केवल आकाश का गुण बताना ठीक नहीं। क्योंकि वह अन्य महाभूतों में भी उपलब्ध होता है। अतः प्रयोग है– *शब्द केवल आकाश का गुण नहीं है, वायु आदि में भी उपलब्ध होने के कारण[3]।*

न्याय– वास्तव में यह कहना सर्वथा अनुचित है कि शब्द घण्टा आदि पृथिव्यादि पदार्थों का भी गुण होता है। क्योंकि पृथिवी आदि द्रव्यों के गुण कारणगुणपूर्वक होते हैं। पर यह शब्द ऐसा नहीं है। अतः इनका गुण भी नहीं है। प्रयोग होगा– *शब्द स्पर्श वाले द्रव्यों का गुण नहीं है, अकारण–गुणपूर्वक होकर भी प्रत्यक्ष होने के कारण, सुख के समान।*

इस तथ्य को अन्य अनुमानों से भी सिद्ध कर सकते हैं। यह शब्द घण्टा संयुक्त आकाश से अन्यत्र भी उपलब्ध होता है। पर अन्य सभी विशेष गुण आश्रय में ही उपलब्ध देखे गए हैं। अतः विपरीत धर्म वाला होने से यह स्पर्श वाले द्रव्यों का गुण नहीं हो सकता। प्रयोग होगा– *यह शब्द पृथिवी आदि चारों का गुण नहीं, आश्रय से अन्यत्र उपलब्ध होने के कारण[4]।*

शब्द की आश्रय से अन्यत्र उपलब्धि शब्द–सन्तान नामक विशेष प्रक्रिया के कारण होती है। अन्य किसी भी गुण में यह प्रक्रिया नहीं पाई जाती। इस दृष्टि

---

१. शब्दपर्यायस्याश्रयो भाषावर्गणा, न पुनराकाशम्, तत्र च स्पर्शो निर्णीयत एव।
–वही पृ. १२७

२. न गगनगुणः शब्दः, अस्मदादिप्रत्यक्षत्वात्, रूपवत्। – वही पृ. १२६

३. शब्दो नास्ति आकाशमात्रगुणः, वाय्वादावपि तदुपलब्धेः।
– वेदान्त परिभाषा, विषय–परिच्छेद पृ. ३१२

४. अयं शब्दो न पृथिव्यादीनां चतुर्णां गुणः, आश्रयादन्यत्रोपलब्धेः।
–तत्त्वसंग्रह श्लोक ६२१ पर पञ्जिका।

से भी अन्यों से विपरीत धर्म वाला होने से यह घण्टा आदि का गुण नहीं हो सकता। प्रयोग होगा– *शब्द रूपादि गुणों के समानाश्रय घण्टा आदि में समवेत नहीं हो सकता, घण्टास्थ गुणों के सन्तान वाला न होने[1] तथा इस शब्द के शब्द–सन्तान वाला होने से। घण्टा आदि में समवेत होने वाले रूपादि गुण कभी सन्तान वाले नहीं होते–घण्टा के मूर्त तथा अव्यापक होने से[2]। पर शब्द तो शब्द–सन्तान वाला है। अतः घण्टा आदि में समवेत भी नहीं है।*

मीमांसक– वास्तव में यह कहना ठीक नहीं कि शब्द में कोई सन्तान होता है। क्योंकि किसी भी रूपादि गुण में यह सन्तान नहीं देखा गया। अतः मानना होगा कि किसी भी गुण के साथ व्याप्ति न होने से यह अन्य शब्द को उत्पन्न करने वाला नहीं हो सकता। प्रयोग है– *शब्द अन्य शब्द का आरम्भक नहीं है, गुण होने के कारण, रूप के समान[3]।*

यह शब्द–सन्तान सम्भव भी नहीं है। क्योंकि ऐसा सन्तान क्रियावान् तथा वेगवान् के द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है। शब्द में ऐसी कोई क्रिया या वेग गुण न होने से उसमें यह सन्तान सम्भव नहीं हो सकता। प्रयोग होगा– *शब्द में कोई वीचीसन्तान नहीं है, क्रियायोग न होने से तथा वेग न होने से।*

जैन– इसलिये मानना होगा कि शब्द का आश्रय स्पर्श वाली वायु आदि होती है। उसके अनुकूल होने पर उसका स्पर्श तथा दूर का शब्द भी साथ ही सुनाई पड़ता है, प्रतिकूल होने पर पास का शब्द भी नहीं सुनाई पड़ता। इस प्रकार शब्द–सन्तान से नहीं, अपितु वायु के चलने से यह शब्द श्रोता तक पहुँचता है[4]।

न्याय– पर वायु में तो कोई शब्द रहता ही नहीं। क्योंकि वायु के सभी गुण यावद् द्रव्यभावी होते हैं। पर शब्द ऐसा नहीं है। अतः प्रयोग होगा– *शब्द वायु का गुण नहीं, अयावद् द्रव्यभावी होने से।*

शिक्षाशास्त्र– अतः यही कहना समुचित है कि वायु द्रव्य ही घनीभूत होकर अन्ततः शब्दाकार में परिणत हो जाता है।

---

१. शब्दो नास्ति रूपादिसमानदेशः, कम्पसमानाश्रयः घण्टादिस्थः, घण्टादिनिष्ठरूपादीनां सन्तानादर्शनात्। – न्याय सूत्र २.२.३८ के वात्स्यायन भाष्य पर प्रसन्नपदा पृ. १६१

२. घण्टायाश्च मूर्तत्वेनाव्यापकत्वेन च तत्र शब्दस्य सन्तानो नोपपद्यते। –उक्त सूत्र पर प्रसन्नपदा पृ० १६१

३. न शब्दान्तरारम्भकः शब्दो गुणत्वात्, रूपवत्। – न्याय मञ्जरी पृ. १६७

४. शब्दाश्रयः स्पर्शवान्। अनुवात – स्याद्वादमञ्जरी पृ. १२६ (द्वितीय परिच्छेद की टिप्पणी द्रष्टव्य)

मीमांसक– वास्तव में यह कथन सर्वथा अनुचित है। क्योंकि यदि शब्द वायु का परिणाम हो तब तो शब्द के साथ२ वायु के स्पर्श की भी उपलब्धि होनी चाहिये। जैसे तन्तु का पटरूप में परिणाम होने पर पट के साथ २ तन्तु की तथा उसके रूपादि गुणों की भी चक्षु से उपलब्धि अवश्य होती है। पर यहाँ जो वायु शब्द का प्रत्यक्ष कराती है, वह किसी विभिन्न स्पर्श की उपलब्धि नहीं कराती। अतः शब्द वायु का परिणाम नहीं हो सकता। प्रयोग होगा– *शब्द वायवीय नहीं है, शब्द के वायवीय अवयवों तथा उसके स्पर्श का श्रोत्र से प्रत्यक्ष न होने के कारण*[1]।

अतः मानना होगा कि वायु शब्दाकार में परिणत नहीं होता, अपितु वह नित्य शब्द को अभिव्यक्त करता है।

न्याय– पर इस दुनियाँ में कोई नित्य अभिव्यंग्य शब्द है ही नहीं। सभी अनित्य शब्द हैं। क्योंकि वे बाह्य ज्ञानेन्द्रिय से अनुभूत होते हैं। सभी ऐसे पदार्थ अनित्य ही होते हैं। ज्ञानेन्द्रियों से विभु, अणु नित्य पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं होता। वे नियमतः अनित्य पदार्थों का ही प्रत्यक्ष करती हैं। अतः प्रयोग होगा– *शब्द अनित्य है, जाति वाला होकर हम लोगों के बाह्य करण से प्रत्यक्ष योग्य होने के कारण, घट के समान*[2]।

कारण वाला होने अथवा उत्पन्न होने वाला होने से भी इस शब्द को अनित्य सिद्ध किया जा सकता है। अतः प्रयोग होगा– *शब्द अनित्य है, कारण वाला होने से*[3]।

मीमांसक– यह ठीक नहीं। वास्तव में तो श्रवण योग्य होने से शब्द नित्य ही है। अतः प्रयोग है– *शब्द नित्य है, श्रावण होने से।*

न्याय– आपका यह हेतु 'सत्प्रतिपक्ष' नामक हेत्वाभास से ग्रस्त है। क्योंकि इसे खण्डित करने के लिये उपर्युक्त अनुमान यथावस्थित है।

मीमांसक– आपका उपर्युक्त हेतु 'व्याप्यत्वासिद्ध' नामक हेत्वाभास से ग्रस्त है। क्योंकि उसमें 'अश्रावणत्व' उपाधि है[4]। इस प्रकार जो बाह्य इन्द्रिय से

---

१. तुलनीय–तृतीय परिच्छेद में टिप्पणी में प्रस्तुत शाबर भाष्य तथा तत्वसंग्रह श्लोक २५३३। साथ ही 'तस्य वायोः स्पर्शप्रसंगो योऽयं भाष्यकारेण कृतः, स कथम्–प्रस्तुत श्लोक पर पञ्जिका।

२. अनित्यः शब्दो जातिमत्त्वे सति अस्मदादिबाह्यकरणप्रत्यक्षत्वात्, घटवत्।
– न्याय सूत्र २.२.१४ पर न्याय–वार्तिक तथा तर्कभाषा पृ. २०६

३. अनित्यश्चायं कारणतः – वैशेषिक सूत्र २.२.२८। कारणवदनित्यं दृष्टम्, स्थाल्यादि। कारणवाँश्चायम्।
– प्रस्तुत सूत्र पर भाष्य

४. एतेनेदमपास्तम्—अश्रावणत्वोपाधिबाधितत्वाच्च। –सर्वदर्शन–संग्रह, जैमिनि दर्शन पृ० ५५४

ग्राह्य हो वह अनित्य नहीं, अपितु जो अश्रावण हो वही अनित्य होता है।

न्याय– आपका यह उपाधि प्रदर्शन सर्वथा गलत है। आखिर अश्रावणत्व किसी की अनित्यता में किस प्रकार प्रयोजक हो सकता है। प्रयोजक को ही उपाधि कहते हैं[1]। अतः यह उपाधि मान्य नहीं है।

मीमांसक– आपका भी अनित्यता सिद्धि के लिये हेतु–प्रदर्शन सर्वथा गलत है। आखिर कारणवत्व या कार्यत्व हेतु अपने आश्रय शब्द में है या नहीं इसे स्पष्ट सिद्ध किये बिना यह सद् हेतु किस प्रकार हो सकता है। अतः यह हेतु मान्य नहीं है।

विविध निष्कर्षों के कारण

उपरिलिखित विवेचन से प्रकट है कि इन अनुमानों के प्रयोग से दार्शनिक लोग अलग२ निष्कर्षों पर पहुँचते हैं। इसका कारण ढूँढ़ना रोचक है कि अनुमान 'प्रमाण' होकर भी एक निष्कर्ष क्यों नहीं प्रदान कर पाता। स्थिति यह है कि दो वस्तुओं में समानता के आधार पर अतिसामान्य तथा विशेष परिस्थिति वाले निष्कर्ष भी निकाले जा सकते हैं। यदि इन वस्तुओं में कुछ समानता तथा कुछ विलक्षणता पाई जाती हो तब तो अलग२ निष्कर्ष निकालना सर्वथा सम्भव है।

उदाहरण के लिये मान लीजिये, क तथा ख में परस्पर च[1] तथा च[2] नामक धर्मों की समानता देखी गई है तथा ख में 'ट' नामक एक धर्म की विलक्षणता देखी गई है। इस ख में च[3] नामक धर्म को सिद्ध करना है जो कि 'क' में प्रत्यक्ष ही देखा गया है। यहाँ समानता के आधार पर अन्वयी अनुमान के द्वारा एक निष्कर्ष तथा विलक्षणता के आधार पर व्यतिरेकी अनुमान के द्वारा ठीक विपरीत निष्कर्ष प्राप्त हो सकता है। जैसे–

प्रथम अनुमान प्रयोग–

ख में च[3] नामक धर्म है।

ख में च[2] धर्म होने के कारण।

जहाँ२ च[2] होता है, वहाँ२ च[3] अवश्य होता है, जैसे क में

ख में भी च[2] है। अतः वहाँ च[3] भी अवश्य है।

---

१. प्रयोजकश्चोपाधिरुच्यते। –तर्कभाषा, हेत्वाभासनिरूपण पृ० २५२

द्वितीय अनुमान प्रयोग–

ख में च^3 नामक धर्म नहीं है।

ख में 'ट' धर्म होने के कारण

जहाँ२ च^3 नामक धर्म होता है, वहाँ वहाँ 'ट' धर्म नहीं होता, जैसे क में।

पर ख तो ऐसा नहीं है। अतः वहाँ च^3 धर्म भी नहीं है।

इस द्वैत को एक लौकिक उदाहरण से भी प्रकट कर सकते हैं। मान लीजिये, किसी व्यक्ति को त्वचा से आग में उष्ण गुण होने का अनुभव नहीं है। केवल वह दूर से उसके लाल प्रकाश को देखकर ही उसे जान पाता है। यह व्यक्ति अनुमान प्रमाण के द्वारा इसमें उष्ण गुण के होने या न होने को जानना चाहता है। यहाँ अनुमाता अपने अलग२ प्रयोगों से दो विरोधी निष्कर्ष प्राप्त कर सकता है। क्योंकि आग में पृथिवी, जल, वायु के साथ कृतकत्व या अनित्यत्व धर्म की समानता है। साथ ही उस आग में प्रकाशकत्व नामक धर्म की ऐसी विलक्षणता है, जो अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं होती। इस दशा में प्रयोग इस प्रकार होंगे–

प्रथम अनुमान प्रयोग–

आग अनुष्ण या ठण्डी होती है।

कृतक या अनित्य होने से

दुनियाँ में जो२ अनित्य हैं, वे अनुष्ण अवश्य हैं, जैसे जल आदि।

आग भी ऐसी ही अनित्य है। अतः अवश्य ही अनुष्ण या ठण्डी है।

द्वितीय अनुमान प्रयोग–

आग उष्ण होती है

प्रकाशक होने से

जो उष्ण नहीं होता, वह प्रकाशक भी नही होता, जैसे जल आदि।

पर आग तो ऐसी नहीं, अर्थात् प्रकाशक है।

अतः यह अनुष्ण नहीं, अर्थात् उष्ण है।

ध्यान रहे, यहाँ न्याय के आकर–ग्रन्थों में प्रथम अनुमान के हेतु को प्रत्यक्ष द्वारा बाधित ठहराया है। किसी अन्य अनुमान के द्वारा नहीं। उनके पास ऊपर प्रस्तुत दो अनुमानों में से किसी एक को अनुमान से ही सिद्ध या बाधित करने का कोई उपाय नहीं। यहाँ पर हमने उस बेचारे अनुमाता को आग के पास ले जाकर प्रत्यक्ष से प्रथम अनुमान को बाधित कर दिया। पर अन्य उदाहरणों में अगर किसी धर्म को प्रत्यक्ष से जान पाने का उपाय न हो तो? स्पष्ट है कि वहाँ अनुमान किसी एक को सिद्ध या बाधित नहीं कर सकता।

शब्द के विभिन्न धर्मों के साथ ऐसी ही स्थिति है। इसमें अनेक समान तथा कुछ विलक्षण धर्म होने के कारण सभी दार्शनिक अपने२ मनपसन्द निष्कर्ष निकालते हैं तथा उसे ही सही ठहराते हैं। इसे निम्न चित्र से स्पष्ट किया जा सकता है–

शब्द की रूप आदि चार गुणों से समानताएँ–

I रूप आदि बाह्य ज्ञानेन्द्रियों से प्रत्यक्ष के विषय होते हैं। I शब्द भी बाह्य ज्ञानेन्द्रिय से प्रत्यक्ष का विषय होता है।

निष्कर्ष-

१. *वेदान्त- जो२ इन ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं, वे अवश्य ही पृथिव्यादि के गुण होते हैं। अतः शब्द भी पृथिवी आदि का गुण है।*

२. *जैन- जो२ हमारे प्रत्यक्ष का विषय होते हैं, वे आकाश के गुण नहीं होते। अतः शब्द भी आकाश का गुण नहीं है।*

३. *न्याय- जो२ इन ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं, वे अवश्य ही गुण होते हैं। अतः शब्द भी गुण है।*

II रूप आदि सभी गुण हैं। II शब्द भी गुण है।

निष्कर्ष-

मीमांसक- जो२ गुण होते हैं, उनमें सन्तान नहीं होता अतः शब्द में भी शब्द-सन्तान नहीं होता।

शब्द की रूप आदि चार गुणों से विलक्षणताएँ–

I रूप आदि कारणगुणपूर्वक होकर प्रत्यक्ष के विषय हैं।	I शब्द कारणगुणपूर्वक न होकर प्रत्यक्ष का विषय है।

निष्कर्ष-

न्याय- पर जो पृथिवी आदि चार द्रव्यों के गुण होते हैं, वे तो अवश्य ही कारण-गुण-पूर्वक होते हैं। शब्द तो ऐसा है नहीं। अतः यह पृथिवी आदि चार का गुण भी नहीं है।

II रूप आदि आश्रय से अन्यत्र उपलब्ध नहीं होते।	II शब्द घण्टा संयुक्त आकाश से अन्यत्र भी उपलब्ध होता है।

निष्कर्ष-

न्याय- पर जो पृथिवी आदि चार द्रव्यों के गुण हैं वे तो कभी आश्रय से अन्यत्र उपलब्ध नहीं होते। शब्द तो ऐसा नहीं है। अतः यह पृथिव्यादि का गुण भी नहीं है।

III रूप आदि में सन्तान नहीं होता।	III शब्द में शब्द–सन्तान होता है।

निष्कर्ष-

न्याय- पर पृथिवी आदि चार द्रव्यों के गुणों में तो सन्तान नहीं होता। शब्द तो ऐसा नहीं। अतः यह पृथिव्यादि का गुण भी नहीं।

इस प्रकार विरोधी अनुमान प्रयोगों की परिस्थिति में इतने अनुमानों के बाद भी यह प्रश्न बना ही रहता है कि–

I शब्द के भी बाह्य इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने के कारण इसे पृथिवी आदि का गुण मानें।

अथवा

शब्द के अकारणगुणपूर्वक प्रत्यक्ष आदि होने के कारण इसे पृथिवी आदि का गुण न मानें।

II शब्द के भी गुण होने तथा इसमें क्रिया तथा वेग न होने के कारण इसमें शब्द– सन्तान न मानें।

अथवा

शब्द के आश्रय से अन्यत्र उपलब्ध होने के कारण शब्द–सन्तान मानें।

III व्यक्तिभेद आदि से शब्द के अलग२ उपलब्ध होने से इन्हें अलग२ मानें।

अथवा

सर्वत्र शब्द की समानता उपलब्ध होने से इन्हें सर्वथा एक अथवा 'वही' मानें।।

---

६. समस्या की जड़ें कहाँ हैं।

पिछले दो परिच्छेद केवल इस तथ्य की झलक दिला पाने में समर्थ हैं कि दर्शन के विविध सम्प्रदाय ध्वनि को लेकर कितनी उलझन में हैं। दर्शन में ध्वनि के हर विकल्प को आजमाया गया है, उस पर गम्भीर विचार किया गया है। पर लगभग सभी विकल्पों पर अन्य सम्प्रदायों ने अनेक प्रश्न उपस्थित क़िये हैं। ये प्रश्न कभी२ तो इतने अकाट्य हैं कि इनका समाधान प्राप्त होना सर्वथा दुष्कर है। अतः यहाँ क्रमबद्ध विचार कर लेना आवश्यक है कि सभी सम्प्रदायों की ध्वनि–विषयक प्रमुख मान्यताओं के समक्ष कौन प्रमुख समस्याएँ उपस्थित होती हैं।

इस तथ्य में लगभग सभी सहमत हैं कि ध्वनि श्रोत्र से ग्रहण किया जाने वाला गुण है। श्रोत्र, घ्राण तथा रसना इन्द्रियों से केवल गुण का प्रत्यक्ष होता है। चक्षु तथा त्वचा से गुण तथा द्रव्य दोनों उपलब्ध होते हैं। क्योंकि आँखें रूप के अलावा लम्बाई, चौड़ाई, दीर्घ, ह्रस्व, संयोग, विभाग आदि गुणों के माध्यम से किसी द्रव्य के आकार प्रकार को देख पाने में समर्थ हैं। श्रोत्र से किसी द्रव्य के ऐसे किसी आकार प्रकार को उपलब्ध नहीं किया जा सकता। अतः मान्य है कि श्रोत्रेन्द्रिय केवल शब्द नामक गुण का प्रत्यक्ष करती है।

सभी गुण अपनी परिभाषा के अनुसार अनिवार्यतः किसी न किसी द्रव्य में निवास करते हैं। बाहरी ज्ञानेन्द्रियों से ग्रहण किये जाने वाले विशेष गुण—रूप, रसं, गन्ध, स्पर्श इसी प्रकार के देखे गए हैं। हम यह सोच भी नहीं सकते कि द्रंव्य को छोड़ कर केवल रूप गुण कहीं घूमता फिरे! जब भी कभी रूप एक स्थान से अन्यत्र उपलब्ध होता है तो उसके अपने द्रव्य में रहते हुए ही ऐसा होता है।

ज्ञानेन्द्रियाँ अनिवार्यतः इन गुणों वाले द्रव्य से संयुक्त होकर ही इनके गुणों का प्रत्यक्ष करती हैं। यद्यपि प्रक्रिया थोड़ी अलग२ है। स्पर्श बोध के लिये या तो त्वचा उस द्रव्य तक पहुँचती है या वह स्पर्शवान् द्रव्य त्वचा के पास लाया जाता है। रस—बोध के लिये सामान्यतः रसवान् द्रव्य रसना तक पहुँचाया जाता है। रूप—बोध के लिये आँखें अपनी किरणों के माध्यम से रूपवान् द्रव्य तक पहुँचती हैं। (दार्शनिक ऐसा ही मानते हैं।) गन्ध—बोध के लिये फूल से गन्ध वाले अणु उड़ कर हवा से संयुक्त होकर उसके सहारे नाक तक पहुँचते हैं।

पर ध्वनि या शब्द—गुण के प्रत्यक्ष के सन्दर्भ में स्थिति थोड़ी भिन्न है। हम देखते हैं कि घण्टा में शब्द उत्पन्न होकर घण्टा नहीं, अपितु केवल उसका शब्द

हमारे कानों तक पहुँचता है। शब्द के गुण होने के कारण ऐसा नहीं होना चाहिये। इसे सिद्ध करने के लिये अनेक विकल्प हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। जैसे–

I घण्टा में शब्द उत्पन्न ही न होता हो, अपितु इससे संयुक्त आकाश नामक द्रव्य में उत्पन्न होकर शब्दज–शब्द प्रक्रिया से उत्पन्न विनष्ट होते हुए हमारे कानों तक पहुँच जाता हो।

II घण्टा में शब्द उत्पन्न होकर उससे संयुक्त वायु में नित्य सम्बन्ध से उत्पन्न होकर उसके स्पर्श के साथ२ उसमें रहते हुए उस वायु की गति के द्वारा कानों तक पहुँच जाता हो।

III घण्टा में शब्द उत्पन्न होकर उसके शब्द वाले अणु घण्टा से निकल कर हवा में संयुक्त हो जाते हों तथा वे हवा के सहारे हमारे कानों में पहुँच जाते हों। जैसे फूल के गन्ध वाले अणु हवा में मिल कर नाक तक पहुँच जाते हैं।

IV स्वयं श्रोत्र ही घण्टादेश में पहुँच कर उसमें स्थित शब्द को उपलब्ध करता हो।

V घण्टा के प्रकम्पन से समीपवर्ती वायु में संयोग–विभाग के द्वारा सर्वत्र वर्तमान नित्य शब्द श्रोत्र में अभिव्यक्त होता हो।

इसमें न्याय–सम्मत प्रथम विकल्प के अन्तर्गत शब्दज–शब्द की प्रक्रिया को अतिसूक्ष्मता के साथ निरूपित किया जाता है। फिर भी उस पर ऐसे अजर अमर प्रश्न उपस्थित किये गए हैं, जिनका समाधान सम्भव नहीं दिखता।

जैन–सम्मत द्वितीय विकल्प पर भी प्रश्न यह है कि वायु का यह शब्द अन्य गुणों के समान 'यावद्–द्रव्य–भावी' क्यों नहीं होता। अथवा यह पूछ सकते हैं कि वायु में स्थित यह शब्द किन कारणों से तुरन्त नष्ट हो जाता है। अन्य गुण तो ऐसे नहीं हैं।

सांख्य– सम्मत तृतीय विकल्प पर भी प्रश्न यह है कि इन उड़े हुए घण्टा के अणुओं में समवेत शब्द क्यों तुरत नष्ट हो जाता है। साथ ही इस दशा में यह सम्भावना बनती है कि यह घण्टा कपूर की तरह शीघ्र उड़ जाय। ऐसा क्यों नहीं होता।

वेदान्त–सम्मत तथा मीमांसा–सम्मत क्रमशः चौथे, पाँचवें विकल्प आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से व्यावहारिक नहीं हैं। अतः उन पर विचार अनावश्यक है।

ध्वनि–स्वरूप पर आधुनिक वैज्ञानिक विकल्प

इनके अलावा ध्वनि का एक और विकल्प बचता है, जिसे आधुनिक वैज्ञानिक स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार बाहरी दुनियाँ में 'ध्वनि' नामक कोई अतिरिक्त वस्तु है ही नहीं!! दार्शनिकों के अनुसार यह विकल्प इतना अव्यावहारिक है कि इस पर विचार करने की भी आवश्यकता नहीं।

पर वैज्ञानिक कहते हैं कि यही सही है। इस दुनियाँ में ध्वनि ऊर्जा है, ध्वनि तरंगें हैं, ध्वनि उत्पन्न करने की सम्पूर्ण प्रक्रिया एवं व्यवस्था है। पर ध्वनि नहीं है। घण्टा में बनने वाले प्रकम्पन, हवा में उत्पन्न तरंगें तथा इनके द्वारा कानों की अस्थियों में बनने वाले प्रकम्पन के परिणामस्वरूप जो भी ध्वनि उत्पन्न होती है, वह एक संवेदना है, जो कि मस्तिष्क में निवास करती है। इस संवेदना के अनिवार्य कारण प्रकम्पन आदि को भी लौकिक व्यवहार में गौण रूप से ध्वनि कहा जा सकता है। पर बाहरी दुनियाँ में इनसे अतिरिक्त कोई 'ध्वनि' नहीं है।

दार्शनिक कहेंगे कि यह विवरण बौद्ध विज्ञानवादी है। पर वास्तव में ऐसा है नहीं। यह विवरण उन भौतिक वैज्ञानिकों का है, जो बाहरी दुनियाँ को सर्वथा सत्य तथा हमारे ज्ञान से अप्रभावी मानते हैं। दार्शनिकों के अनुसार 'शब्द का अनुभव' जैसे प्रयोगों में स्पष्ट ही हमारे ज्ञान से भिन्न बाहरी विषय के रूप में शब्द उपलब्ध होता है। पर प्रयोग तो 'पीड़ा का अनुभव', 'सुख–दुख का अनुभव' भी होते हैं। इन प्रयोगों से कोई दार्शनिक भी पीड़ा को ज्ञान–बाह्य नहीं मानते।

भौतिक विज्ञान के अनुसार दुनियाँ के पदार्थ निश्चय ही ज्ञान–बाह्य हैं। क्योंकि इनके द्वारा तथा इनके अनुरूप हमारा ज्ञान या संवेदना उत्पन्न होती है। फिर भी ये संवेदनाएँ अपने सर्वाधिक सन्निहित बाह्य कारक के सर्वथा अनुरूप नहीं बनतीं। अपितु मस्तिष्क के अपने२ संवेदी क्षेत्र में अपने२ विशिष्ट प्रकार की बनती हैं। ऊष्म– संवेदना, शब्द–संवेदना इत्यादि के समय बाह्य भौतिक घटना से ज्ञानेन्द्रियों पर बने विविध प्रकार के प्रकम्पन सर्वाधिक सन्निहित कारक हैं। इनकी मस्तिष्क के विविध संवेदी क्षेत्रों में बने प्रतिबिम्बों के द्वारा पुनः प्रस्तुति की जाती है[१]। इस पुनः प्रस्तुति की प्रक्रिया में यह आवश्यक नहीं होता कि वे संवेदी

---

१. हमारे मस्तिष्क में बाह्य विश्व के प्रतिबिम्ब होते हैं। फलस्वरूप, हमारे सब विचार भी मस्तिष्क में बाह्य विश्व के प्रतिबिम्ब हैं। – द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद की सरल रूपरेखा पृ. १२६। पुनः – 'यह ध्यान रहे कि हर प्रतिबिम्ब प्रतिबिम्बित की आंशिक पुनः प्रस्तुति ही करता है।' वही पृ. १३६

क्षेत्र इन्द्रियस्थ प्रकम्पनों का ठीक उसी प्रकार मूल्यांकन करें। अपितु अग्नि के प्रकम्पन के अनुभव के समय मस्तिष्क में यह मूल्यांकन ऊष्णता के रूप में होता है तथा सुनते समय हमारा मस्तिष्क वायु–प्रकम्पन के द्वारा उत्पन्न कानों की अस्थि–प्रकम्पन का शब्द–संवेदना के रूप में मूल्यांकन करता है। अब यह मस्तिष्क अपने स्वभाव के अनुसार इस विशिष्ट प्रभाव या मूल्यांकन को इसी रूप में बाहर आरोपित करता है। इसीलिये ऊष्मा के समान ध्वनि अतिरिक्त रूप से बाहर प्रतीत होती है।

हमने इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में 'रूप तथा ऊष्मा' नामक परिच्छेद के अन्तर्गत विस्तार से सिद्ध किया है कि अग्नि तथा उसके प्रकम्पन के अतिरिक्त कोई ऊष्मा नामक गुण बाहरी दुनियाँ में अस्तित्वशाली नहीं। फिर भी मस्तिष्क अपनी विशेष प्रक्रिया के अनुसार ऐसा ही समझता है। हम उस सम्पूर्ण विवरण को यहाँ दुहराना नहीं चाहते।

इस प्रक्रिया के द्वारा हम दैनिक जीवन में ध्वनि को इस प्रकार स्थापित करते हैं– १. वह सन्निहित कारक (प्रकम्पन आदि) जिस ध्वनि रूप में मस्तिष्क को प्रभावित करता है, अथवा यों कहें कि मस्तिष्क उस कारक का जिस रूप में मूल्यांकन करता है, उसे हम बाहरी दुनियाँ में प्रकम्पन क्रिया से भिन्न रूप में आरोपित करते हैं। २. वायु–प्रकम्पन जैसे सन्निहित–कारक के अपने स्वरूप की उपलब्धि न होने के कारण उसके ध्वनि होने या न होने की चर्चा नहीं करते, पर घण्टा–प्रकम्पन की ध्वनि–स्वरूपता का प्रतिषेध करते हैं।

इसीलिये दर्शनशास्त्र के विद्वान् प्रयत्नपूर्वक प्रकम्पन की शब्दस्वरूपता का प्रतिषेध करते हैं। उनका कहना है कि घण्टा के प्रकम्पन का अनुभव त्वचा या आँखों से होता है, जो कि कानों से होने वाले शब्द–बोध से भिन्न प्रकार का है। इस प्रकार इस बोध के चाक्षुष होने से इसे शब्द नहीं माना जा सकता[1]।

यहाँ वायु–प्रकम्पन की शब्द–स्वरूपता का प्रश्न ही नहीं उठाया गया है। क्योंकि हम इनका त्वचा आदि से अनुभव नहीं कर सकते तथा हमारे कान भी इनका 'प्रकम्पन' के रूप में अनुभव नहीं कराते। आज हम जानते हैं कि साँपों के

---

१. नापि कर्माचाक्षुषत्वात् प्रत्ययस्य। – वैशेषिक सूत्र २.२.२४
(शब्दो नास्ति कर्म)। प्रत्ययस्य शब्दविषयकस्याचाक्षुषत्वात्, चक्षुर्भिन्नबहिरिन्द्रियजन्यत्वा–दित्यर्थः। – उसी सूत्र पर उपस्कार।

कान नहीं होते। पर वे किसी शब्द होने की दशा में धरती पर तथा उसके पश्चात् वायु में बने प्रकम्पनों का अनुभव कर लेते हैं[1]। कुछ मछलियाँ भी श्रवण–सीमा से निम्न आवृत्ति वाले प्रकम्पनों के प्रति अपनी पार्श्व रेखा में उपस्थित ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा संवेदनशील होती हैं[2]। यदि हमारे साथ भी ऐसा होता तब शायद हम इन वायु–प्रकम्पनों की शब्द–स्वरूपता का सिद्धान्त स्थापित करते!! पर वर्तमान ज्ञानेन्द्रिय–रूपी उपकरणों की स्थिति में हमारी ध्वनि–विषयक स्थापनाएँ उपर्युक्त प्रकार की ही बनती हैं।

दर्शन तथा विज्ञान में मौलिक मतभेद

इस विवेचना के आलोक में दर्शन तथा विज्ञान में समानता तथा स्पष्ट विभेद स्थापित कर लेना आवश्यक है। दोनों इस तथ्य में एकमत हैं कि घण्टा का प्रकम्पन, वायु की तरंगें इत्यादि ध्वनि या शब्द को उत्पन्न करने में कारण हैं।

अब यहाँ वैज्ञानिकों का कहना है कि १. इन तरंगों तथा कानों के अस्थि–प्रकम्पन आदि के द्वारा 'ध्वनि' नामक संवेदना मस्तिष्क में उत्पन्न होती है, जो कि घण्टा आदि में आरोपित की जाती है। वस्तुतः बाहरी दुनियाँ में इन तरंगों आदि से अतिरिक्त ध्वनि नामक कोई पदार्थ नहीं। २. दैनिक प्रयोगों में कार्य–कारण के अभेद के द्वारा गौण रूप से इन तरंगों को ध्वनि कहने में कोई आपत्ति नहीं। क्योंकि ये तरंगें अनिवार्यतः शब्द–संवेदना उत्पन्न करने में सबसे सन्निहित कारण हैं।

पर दार्शनिकों का कहना है कि १. इन तरंग इत्यादि के द्वारा सर्वथा अतिरिक्त वस्तु 'ध्वनि' नामक गुण रूप में बाहरी दुनियाँ में उत्पन्न होती है जिसका संवेदन मनुष्य को होता है। २. दैनिक प्रयोगों में घण्टा–प्रकम्पन या तरंगों से सर्वथा भिन्न रूप में घण्टा–ध्वनि को समझना चाहिये।

सचमुच, यही समस्या की जड़ है। इस ध्वनि को अतिरिक्त मानने पर इसे

---

१. यह प्राचीन काल से ही जान लिया गया था कि सापों के कान नहीं होते। साथ ही यह भी ज्ञात था कि वे 'सुनने' जैसी संवेदना के साथ अपनी अनुक्रिया अवश्य करते हैं। अतः मान्य था कि वे आँखों से ही सुनते हैं!! इसे प्रकट करने के लिये संस्कृत में इन साँपों के लिये एक रोचक शब्द 'चक्षुःश्रवस्' प्रचलित है, जिसका मूल अर्थ 'आँखों से सुनने वाला' यह है।

२. पानी के किनारे कदमों के भूमि से जल तक संचारित होने वाले कम्पन का अधिकांश बहुत निम्न आवृत्ति का होता है और मछली कानों के बजाय पार्श्व रेखा में उपस्थित ज्ञानेन्द्रियों से इन कम्पनों को इन्द्रियगोचर कर सकती है।

—प्राणी शरीर का क्रिया विज्ञान, नट श्मिट–नील्सन, पृ० १०४

किसी पदार्थ के अन्तर्गत सिद्ध करना पड़ता है। पुनः इसे किसी अन्य पदार्थ में आधार अथवा स्थान देना पड़ता है। इसकी उत्पत्ति, विनाश, क्रिया आदि की अलग से व्यवस्था करनी पड़ती है। पर व्यवस्था चाहे जो करें, दोषों से छुटकारा नहीं मिलता। यदि इसे गुण मानते हैं तो इसकी गति सिद्ध नहीं होती, क्रिया मानते हैं तो कानों से शब्द–संवेदन नहीं बन पाता। द्रव्य मानते हैं तो इसके ह्रस्व, दीर्घ आदि अन्य गुण सिद्ध नहीं होते।

पर विज्ञान इस ध्वनि को अतिरिक्त न मानते हुए एक साथ इन सभी समस्याओं से मुक्ति प्राप्त कर लेता है तथा औपचारिक प्रयोगों को मान्यता देते हुए लोक–व्यवहार भी सिद्ध कर लेता है। विज्ञान जगत् में एक रोचक प्रश्न पूछा जाता है कि अगर किसी विस्तृत रेगिस्तान में, जहाँ दूर२ तक कोई सुनने वाला न हो, वहाँ कोई विस्फोट हो तो ध्वनि पैदा होगी या नहीं।

इसके दो प्रकार से उत्तर दिये जाते हैं। कुछ का कहना है कि कोई ध्वनि नहीं होगी। क्योंकि ध्वनि तो एक संवेदना है जो कानों में प्रकम्पन के उपाय से मस्तिष्क में उत्पन्न होती है। यह ध्वनि का तात्त्विक स्वरूप है।

पर कुछ का कहना है कि ध्वनि होगी। क्योंकि यहाँ बाहरी दुनियाँ में वह सम्पूर्ण भौतिक घटना परिघटित हुई है, जो ऐसी संवेदना को उत्पन्न करने के लिये अनिवार्यतः उत्तरदायी होती है। यह कार्य–कारण में अभेद मानते हुए ध्वनि का औपचारिक स्वरूप है।

विज्ञान की इस प्रकार की मान्यता पर दर्शन शास्त्र द्वारा अनेक प्रकार के प्रश्न उठाए जा सकते हैं, जो इस प्रकार हैं–

वैज्ञानिक मान्यता पर सम्भावित प्रश्नों का निराकरण

१. दर्शन में किसी विशेष पदार्थ के साथ सन्निकर्ष के द्वारा उसी पदार्थ–विषयक यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रक्रिया में अन्य पदार्थ के साथ इन्द्रिय–सन्निकर्ष के द्वारा अन्य पदार्थ–विषयक ज्ञान को उचित नहीं माना जाता। पर विज्ञन की प्रक्रिया में वायु–प्रकम्पन के साथ श्रोत्रेन्द्रिय के परम्परा–सन्निकर्ष के द्वारा शब्द–विषयक ज्ञान उत्पन्न माना जाता है। अतः प्रश्न है कि इस प्रक्रिया को किस प्रकार उचित ठहराया जा सकता है।

यहाँ विज्ञान का कहना है कि ज्ञानेन्द्रियों से लगभग सभी विशेष गुणों की संवेदना के सन्दर्भ में यही वास्तविकता है। इन संवेदनाओं की उत्पत्ति इन्हीं प्रकम्पनों तथा तरंगों का कमाल है। रूप, रंग की संवेदनाएँ विभिन्न दैर्घ्य वाली

प्रकाश–तरंगों से उत्पन्न होती हैं। लाल रंग की अनुभूति दृश्य–तरंगों में सबसे दीर्घ लम्बान 0-0007112 m.m. वाली प्रकाश–तरंग से उत्पन्न होती है। जबकि बैगनी (violet) रंग के लिये इन दृश्य–तरंगों में सबसे कम लम्बान 0.0004318m.m. वाली प्रकाश–तरंग की अपेक्षा होती है[1]।

किसी माध्यम में चलने वाली तरंगों में भी २० से लेकर २०,००० आवृत्ति वाले स्पन्दनों से हमें शब्द संवेदना प्राप्त होती है। कुत्ता ३०,००० आवृत्ति वाली 'कुत्ता–सीटी' को 'सुन' लेता है[2]। चमगादड़ १,००,००० चक्र आवृत्ति वाले स्पन्दनों से शब्द–संवेदना प्राप्त कर लेता है। जिसे मनुष्य कदापि प्राप्त नहीं कर पाता। अतः मनुष्य के लिये यह स्पन्दन पराश्रव्य है। पर किसी गर्म लोहे के घण्टे के अणुओं के मध्य दस लाख प्रति सेकेण्ड की आवृत्ति वाले स्पन्दनों के द्वारा हम अपनी त्वचा के माध्यम से ऊष्मा की संवेदना प्राप्त कर लेते हैं[3]।

यहाँ विज्ञान का मानना है कि क्योंकि गुणों की अनुभूति की यही वास्तविक प्रक्रिया है। अंतः दर्शन की व्याख्या इस प्रक्रिया के अनुरूप की जानी चाहिये।

वैसे दर्शनशास्त्र भी कभी२ इस प्रक्रिया के समीप पहुँच गए प्रतीत होते हैं। वे अन्य के द्वारा अन्य विषयक ज्ञान को सिद्धान्ततः न मानते हुए भी कहीं२ इसे अपनाते जैसे लगते हैं। जैसे बौद्धों ने न्याय के विद्वानों पर प्रश्न उठाया है कि घटविषयक अनुभव के समय चक्षु का घट अवयवी के साथ सन्निकर्ष किस प्रकार माना जा सकता है। क्योंकि व्यवहार में हमारी आँखें घट अवयवी अर्थात् घट के समूचे आकार प्रकार से एक साथ कभी सन्निकृष्ट हो ही नहीं सकती[4]। न्याय की प्रक्रिया में घटैकदेश कदापि घट नहीं है। ऐसी दशा में कपाल के साथ इन्द्रिय–सन्निकर्ष के द्वारा घटविषयक अनुभव मानना होगा। पर तब एकघटविषयक ज्ञान

1. The shortest visible waves are violet, with a wavelength of about 0.0004318 millimeters. The longest are red, with a wavelength of about 0.0007112 millimeters. In between are all the colors of the spectrum, and each shade has its own wavelength. -Here's more tell me why, London, Page 224
२. इसे इसके निर्माता के नाम पर 'गाल्टन सीटी' कहा जाता है। सर फ्रैंसिस गाल्टन ने इसका निर्माण यह जानने के लिये किया था कि अजायब–घर के जानवर इसे सुनकर कैसी प्रतिक्रिया करते हैं।
3. In a block of hot iron the atoms vibrate perhaps a million times each second- that is, extremely rapidly. -Lots more tell me why, London, Page 338
४. न तावदेकं विषयो भवति, अवयवेभ्योऽन्यस्य अवयविरूपस्य क्वचिदप्यग्रहणात्। नाप्यनेकम्, परमाणूनां प्रत्येकमग्रहणात्।
--विंशतिका श्लोक ११ पर वसुबन्धु कृत स्वोपज्ञ–वृत्ति पृ० ४४

को मानस– परिकल्पना कहना होगा। क्योंकि कपाल तो अनेक हैं[1]।

इस विवरण को उपस्थित करने का हमारा अभिप्राय केवल यह दिखाना है कि आस्तिक दर्शन भी कभी२ न चाहते हुए भी इस उलझन में पड़ गए हैं। वे कहते जरूर हैं कि जब चक्षु का घट के साथ संयोग सन्निकर्ष होता है, तब घट विषयक ज्ञान होता है[2]। पर उक्त प्रक्रिया के अनुसार घट अवयवी के साथ चक्षु के सन्निकर्ष को प्रतिपादित नहीं कर सकते। अतः विज्ञानसम्मत प्रत्यक्ष की इस पूर्वोक्त मान्य प्रक्रिया के आलोक में दर्शनशास्त्र द्वारा इसके सामंजस्य की व्यवस्था करनी चाहिये। यह सच है कि दर्शन के लिये यह एक नए प्रकार की समस्या है। पर दर्शन–शास्त्र के नियम विज्ञान के अनुरूप बनना श्रेयस्कर हैं।

२. विज्ञान पर दर्शन का दूसरा प्रश्न यह है कि अन्य से अन्यविषयक ज्ञान उत्पन्न मानने पर हम इस ज्ञान को 'यथार्थ अनुभव' किस प्रकार सिद्ध कर सकते हैं। क्योंकि बाह्यार्थवाद के अनुसार बाह्य विश्व के अनुरूप ज्ञान होना ही उस ज्ञान की यथार्थता का पैमाना है। अन्यथा सीप के द्वारा उत्पन्न रजत–ज्ञान को भी सत् मानना पड़ेगा। 'शब्द का अनुभव' यह स्पष्टतः बाहरी शब्द के अनुरूप हमारे ज्ञान को प्रकट करता है। पर आपकी प्रक्रिया के अनुसार प्रकम्पन के द्वारा उत्पन्न शब्द के अनुभव को किस प्रकार सत् कहा जा सकता है।

यहाँ वैज्ञानिक दृष्टिकोण यह है कि कोई भी प्रत्यय यदि वह नियमतः उसी बाह्य पदार्थ के प्रभाव से उत्पन्न होता हो तथा अपने अवगम के अनुकूल अर्थक्रिया में सहायक हो तो उसे सत्य मानने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिये। अनेक बाह्यार्थवादी दार्शनिक भी इसे मानते हैं।[3]। आँखों से नदी समझने के पश्चात् यदि उसमें स्नानादि क्रिया हो जाती है तो वह सत्य है। इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में बताया गया है कि आँखों से मूलतः वस्तुओं के रंग, वैसे बिन्दु, उनकी अवस्थिति देखने का कार्य ही होता है। उसके पश्चात् उनके आधार पर रेखा, लम्बाई, चौड़ाई, उनका 'नदी' नाम इत्यादि बताना मस्तिष्क का कार्य है। फिर भी क्योंकि इन सभी मानस प्रत्ययों से अर्थक्रिया में सदा अनुकूलता ही

---

१. तुलना कीजिये– आकाराव्यतिरिक्तत्वात् ज्ञाने वाऽनेकता भवेत्। अन्यथा कथमेकत्वमनयोः परिकल्प्यते। – तत्त्वसंग्रह, बहिरर्थपरीक्षा श्लोक २०३७, पृ. ६६७

२. यदा चक्षुषा घटविषयं ज्ञानं जन्यते तदा चक्षुरिन्द्रियं घटोऽर्थः। अन्योः सन्निकर्षः संयोग एव। – तर्कभाषा प्रत्यक्षनिरूपण पृ. ५३

३. अर्थक्रियासमर्थं यत् तदत्र परमार्थ–सत्।

– प्रमाणवार्तिक, प्रत्यक्षपरिच्छेद श्लोक ३ पृ. १००

सत् की यह परिभाषा बाह्य अर्थ मानने वाले सौत्रान्तिक दार्शनिकों की है।

उपस्थित होती है, अतः उक्त परिभाषा के अनुसार इन्हें सत् मानने में कोई बाधा नहीं।

प्रस्तुत प्रसंग में शब्द–संवेदना के मस्तिष्क में स्थित होने पर भी क्योंकि यह नियमतः बाह्य वायु–प्रकम्पन आदि के प्रभाव से ही उत्पन्न होती है तथा अर्थक्रिया में कभी बाधा उपस्थित नहीं करती। अतः यह ध्वनि या शब्द सत् है।

३. विज्ञान पर दर्शन का तीसरा प्रश्न यह है कि शब्द को मूलतः मस्तिष्कस्थ मानने पर बाहर प्रतीत होने वाले शब्द को किस प्रकार यथार्थ सिद्ध करेंगे। ऐसा न होने पर 'यह घण्टा मीठी आवाज करता है', 'यह तेज बोलता है' जैसे सैकड़ों प्रयोग गलत सिद्ध होने लगेंगे। क्योंकि हम इन प्रयोगों से इन पदार्थों में ही ध्वनि को प्रकट करना चाहते हैं।

यहाँ विज्ञान के अनुसार यह सच है कि तत्त्वतः घण्टा आवाज नहीं, प्रकम्पन करता है। पर यह प्रकम्पन उस ध्वनि–संवेदना का सन्निहित अनिवार्य कारक हैं। ये ऐसी शक्ति हैं, जिनके आने पर कानों के माध्यम से मस्तिष्क को शब्द–संवेदना मिले बिना रह नहीं सकती। अतः इस ध्वनि के वस्तुनिष्ठ न होते हुए भी[1] कार्य–कारण में अभेद मानकर ऐसे प्रयोगों में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। भाषा में सौष्ठव के लिये इस प्रकार के प्रयोग होते रहते हैं, होने भी चाहिये। लोक–व्यवहार में गलत अर्थक्रिया प्रदान न करने के कारण इस प्रकार के प्रयोगों को दोषावह नहीं माना जाता।

दर्शनशास्त्र भी ऐसे प्रयोगों को भ्रम मानकर भी दोषपूर्ण नहीं मानते। पञ्चदशी में एक रोचक उदाहरग के अन्तर्गत यह कहा गया है कि एक बार एक आदमी के सामने नीले रंग के चमकते प्रदीप्र की प्रभा उपस्थित की गई। दूसरे आदमी को चमकदार नीली मणि की प्रभा दिखाई गई। दोनों ने उस प्रभा को ही नीली मणि समझते हुए उसके पास जाकर उसे प्राप्त करने की कोशिश की। पर पहले व्यक्ति का प्रयत्न व्यर्थ गया, जबकि दूसरे को मणि प्राप्त हो गई!

वेदान्त के अनुसार यहाँ दोनों के द्वारा प्रभा को मणि समझना भ्रम है। पर

---

१. वस्तुओं के अवियोज्य मूल गुणों के कारण उनके भीतर जो हमारे अन्दर विभिन्न प्रकार के संवेद जैसे रंग, शब्द, गन्ध, स्वाद इत्यादि उत्पन्न करने की क्षमता होती है, इन्हें उपगुण कहा जाता है। – – – ये उपगुण वस्तुओं में न होकर आत्मा में पाए जाते हैं। ये वस्तुओं की उन शक्तियों की ओर संकेत अवश्य करते है, जो हमारे भीतर उपगुणों के विज्ञानों को उत्पन्न करते हैं।

—आधुनिक दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास, अनुभववाद, जॉन लॉक पृ. २३१

पहले वाले भ्रम से तदनुकूल अर्थक्रिया न होने से वह तात्त्विक भ्रम है, जिसे रोका जाना चाहिये। दूसरे वाले भ्रम से ऐसा नहीं होता। अतः वह संवादि–भ्रम है, जिसके बने रहने में कोई बात नहीं[1]।

विज्ञान के अनुसार भी घण्टा का आवाज करना संवादि–भ्रम है, जिसे कदापि दोषपूर्ण नहीं माना जा सकता।

---

१. दूरे प्रभाद्वयं दृष्ट्वा मणिबुद्ध्याऽभिधावतोः।
प्रभायां मणिबुद्धिस्तु मिथ्याज्ञानं द्वयोरपि।।
न लभ्यते मणिर्दीपप्रभां प्रत्यभिधावता।
प्रभायां धावताऽवश्यं लभ्येतैव मणिर्मणेः।।
दीपप्रभामणिभ्रान्तिर्विसंवादिभ्रमः स्मृतः।
मणिप्रभामणिभ्रान्तिः संवादिभ्रम उच्यते।।
— पञ्चदशी, ध्यानदीपप्रकरण, श्लोक ४.५.६ पृ. ३०६
तुलनीय–यत्रास्ति वस्तुसम्बन्धो यथोक्तानुमितौ यथा।
नान्यत्र भ्रान्तिसाम्येऽपि दीपतेजो मणौ यथा।।
—प्रमाणवार्तिक, स्वार्थानुमानपरिच्छेद, कारिका ८१, पृ० २८५

१०. ध्वनि पर न्याय दर्शन तथा आधुनिक विज्ञान।

न्याय शास्त्र में ध्वनि विषय पर अत्यन्त गम्भीरता के साथ विचार–विमर्श प्राप्त होता है। उनकी अनेक मान्यताएँ आधुनिक भौतिक विज्ञान के सिद्धान्तों से समतुल्य हैं। न्याय के विद्वानों को इसकी वैज्ञानिकता का अनुभव रहा है। प्रशस्तपादभाष्य में एक स्थान पर कहा गया है कि ध्वनि के सम्पूर्ण मार्ग को तार्किकों ने भली प्रकार रौंद डाला है[1]!! सचमुच, यह उनकी गर्वोक्ति नहीं, अपितु तथ्योक्ति है। इस परिच्छेद में ध्वनि के ऐसे कुछ घटकों का वर्णन है, जो आधुनिक विज्ञान के समकक्ष हैं।

१. प्रकम्पन (विज्ञान)– आधुनिक विज्ञान में किसी वस्तु की सरल आवर्त गति या प्रकम्पन को ध्वनि उत्पन्न करने का आवश्यक कारण माना गया है। दैनिक जीवन में अनेक वस्तुओं में यह क्रिया देखी जा सकती है। उदाहरण के लिये वीणा के तार में प्रकम्पन क्रे लिये पहले हाथ की उँगलियों से उस स्थिर तार में बल लगाना पड़ता है। इससे उसमें क्रिया उत्पन्न हो जाती है तथा वह मध्यमान से विपरीत दिशा की ओर जाने लगता है। अब जैसे२ वह आगे बढ़ता है, वैसे२ न्यूटन की गति के तृतीय नियम के अनुसार तार की कील भी उसी बल से अपनी ओर खींचने लगती है। परिणामतः वह तार आगे बढ़ने से रुक जाता है। अब उस कील द्वारा लगाया गया प्रत्यानयन बल (restoring force) उसे अपनी ओर खींचने लगता है। इससे वह मध्यमान स्थिति की ओर लौटने लगता है। इस प्रक्रिया में इसका वेग बढ़ता जाता है, पर कील द्वारा लगाया गया बल कम होता जाता है। मध्यमान स्थिति में आने पर इसका वेग अधिकतम तथा कील द्वारा लगाया गया बल शून्य हो जाता है। इस स्थिति में वह तार रुकता नहीं, अपितु न्यूटन की गति के प्रथम नियम जड़त्व के कारण वह आगे बढ़ने लगता है। आगे जाने पर पुनः उसे कील के बल से रुकना पड़ता है। यह पक्रिया बार२ दुहराई जाती है। इसे ही प्रकम्पन कहते हैं।

इस समय तार की मध्यमान स्थिति में तार का वेग तथा गतिज ऊर्जा अधिकतम होती है तथा कील द्वारा लगने वाला बल तथा स्थितिज ऊर्जा शून्य होती है। पर विपरीत दिशा में तार का वेग तथा गतिज ऊर्जा शून्य होती है तथा कील द्वारा लगने वाला बल तथा स्थितिज ऊर्जा अधिकतम होती है। इस प्रकार

१. अतीवायं मार्गस्तार्किकैः क्षुण्णः। —प्रशस्तपादभाष्य, शब्दप्रकरण, पृ० ६६६

प्रकम्पन के समय स्थितिज ऊर्जा गतिज ऊर्जा में तथा गतिज ऊर्जा स्थितिज ऊर्जा में बदलती रहती है।

दैनिक जीवन में विविध रूपों में इस प्रकम्पन के अनेकानेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। यदि कोई भी वस्तु किसी भी रूप में, किसी भी उपाय से २० से २०,००० प्रति सेकेण्ड की आवृत्ति वाला स्पन्दन कर रही हो तो वह हमें ध्वनि के रूप में सुनाई पड़ती है। सामान्यतः हम सोचते हैं कि मक्खी, मच्छर उड़ते समय मुँह से आवाज करते होंगे। पर सच यह है कि वे अपने पंखों को इतना तीव्र वेग से फड़फड़ाते हैं कि उनका यह प्रकम्पन हमें श्रवण संवेदना प्रदान करने लगता हैं। यहाँ ऐसे कुछ पक्षियों के पंख की प्रति सेकेण्ड आवृत्ति को प्रस्तुत किया जा रहा है–

भौंरा – २२० चक्र प्रति सेकेण्ड

मक्खी – ३५२ चक्र प्रति सेकेण्ड

मधुमक्खी – ४४० चक्र प्रति सेकेण्ड

मच्छर – ५०० से ६०० चक्र प्रति सेकेण्ड

१. प्रकम्पन (दर्शन)– न्यायशास्त्र में भी इस प्रकम्पन को ध्वनि का आवश्यक कारण माना गया है। वहाँ घण्टा अथवा काँसें की थाली की झनझनाहट के द्वारा इसका निरूपण किया जाता है। इसके अनुसार यहाँ बलवत् प्रयत्नपूर्वक हाथ की उँगलियों से इसमें क्रिया उत्पन्न की जाती है। इससे 'वेग' नामक संस्कार उत्पन्न होता है। इसे न्याय की भाषा में 'उत्तरदेशसंयोगजनकक्रियाजनक' कहा जाता है। अतः यह पाँचवें क्षण में पूर्व क्रिया को नष्ट करके नई२ क्षीण से क्षीणतर क्रिया को उत्पन्न तथा नष्ट करता है तथा क्रिया भी क्षीण से क्षीणतर वेग को बार२ उत्पन्न और नष्ट करती है[1]। अन्त में वायु आदि के प्रतिरोध से वेग का नाश तथा इस विनाश से उत्तरदेशसंयोग उत्पन्न करने वाली क्रिया का भी सर्वथा विनाश हो जाता है। इस स्थिति में तार के कील के अवयवों की निबिडता अर्थात् घनापन के दबाव से एक विपरीत बल वाला 'स्थिति स्थापक संस्कार' उत्पन्न हो जाता है[2]। इसे 'यथापूर्वसंयोगजनकक्रियाजनक' कहा जाता है। यह पहले से विपरीत दिशा में क्रिया संचालित करता है। क्योंकि विपरीत दिशा में क्रिया के लिये विपरीत

१. वेगस्यैव कर्मनाशकत्वं कल्प्यते। पूर्वकर्मनाशानन्तरम् (उत्तर कर्म)। उत्तरकर्मणाऽपि पूर्ववेगनाशस्ततो वेगान्तरोत्पत्तिः। –मुक्तावली, गुणनिरूपण श्लोक १५८ मे दिनकरी,

२. ये घना निबिडा अवयवसन्निवेशाः तैर्विशिष्टेषु स्पर्शवत्सु द्रव्येषु वर्तमानः स्थितिस्थापकः। –प्रशस्तपादभाष्य, गुणनिरूपण, संस्कार–प्रकरण मे न्यायकन्दली पृ० ६५६

प्रकार के संस्कार की आवश्यकता होती है। अतः समान दिशा मे क्रिया उत्पन्न करने वाले वेग से यह विपरीत क्रिया सम्भव नहीं थी[1]। यह स्थितिस्थापक भी क्षीण से क्षीणतर क्रिया को उत्पन्न, नष्ट करते हुए तथा इसी प्रकार क्रिया द्वारा उत्पन्न, नष्ट किये जाते हुए अन्त में मध्यमान स्थिति में सर्वथा विनष्ट हो जाता है। यहाँ वेग नामक संस्कार पुनः उत्पन्न होकर उस तार को और आगे बढ़ा देता है।

यहाँ 'वेग' विज्ञान की गतिज ऊर्जा के समकक्ष है तथा 'स्थितिस्थापक' स्थितिज ऊर्जा के समतुल्य है। ऊपर कहे गए restoring force का अनुवाद आसानी से स्थितिस्थापक बल के रूप में हो सकता है। इस प्रकार इस प्रकम्पन में एक बार क्रिया उत्पन्न करने के पश्चात् 'स्थितिस्थापक' 'वेग' में तथा 'वेग', 'स्थितिस्थापक' में परिवर्तित होता है तथा इससे एक निश्चित समय में आगे पीछे की दिशा में क्रम २ से क्रिया बार२ दुहराई जाती है। अतः इसे पारिभाषिक रूप से 'प्रकम्पन' कहते हैं। न्याय सूत्र २.२.३६ के वात्स्यायन भाष्य में कांस्य–पात्री को प्रकम्पन का उदाहरण बताते हुए इसके साथ सावधानी से 'आदि' शब्द का प्रयोग करते हुए अनेक वस्तुओं में अनेक रूपों में ध्वनि उत्पन्न करने वाले इस प्रकम्पन को स्वीकार किया है।

२. तरंगे (विज्ञान)– इन कणों के प्रकम्पन के द्वारा किसी माध्यम में तरंगें उत्पन्न हो जाती हैं। इन माध्यम में उत्पन्न होने वाली तरंगों को प्रत्यास्थ तरंगें (elastic waves) कहते हैं। इनसे भिन्न प्रकृति की कुछ तरंगें निर्वात में बिना किसी माध्यम के भी संचरण करती हैं। इन्हें विद्युत् चुम्बकीय तरंगें (electromagnetic waves) कहा जाता है।

माध्यम में उत्पन्न होने वाली तरंगों को इनकी गतियों के आधार पर दो प्रकार से विभाजित किया जाता है–

I अनुप्रस्थ तरंग (transverse wave)- यहाँ माध्यम के कण तरंग चलने की दिशा के लम्बवत् दिशा में सरल आवर्त गति करते हैं। पानी में चलने वाली तरंगें, वीणा, सितार आदि के तार के प्रकम्पन से बनने वाली तरंगें इसके उदाहरण हैं।

II अनुदैर्घ्य तरंग (longitudinal wave) इसमें माध्यम के कण तरंग चलने की दिशा के अनुदिश ही सरल आवर्त गति करते हैं। वायु में चलने वाली ध्वनि तरंगें इसके उदाहरण हैं।

---

१. यद्दिगभिमुख्येन क्रियया वेगो जन्यते, तद्दिगभिमुखतयैव क्रियासन्तानस्य हेतुः (वेगः)।
—वहीं, न्यायकन्दली पृ० ६४८

<u>तरंगों की मौलिक विशेषताएँ</u>– I तरंगों में माध्यम के कण अपनी मध्यमान स्थिति के इधर–उधर ही कम्पन करते रहते हैं। यदि पानी की किसी तरंग के ऊपर कोई तिनका डाल दें तो वह वहीं ऊपर नीचे होता रहता है, आगे नहीं बढ़ता। इससे स्पष्ट है कि पानी का स्थानान्तरण नहीं होता।

II यहाँ ऊर्जा का संचरण विक्षोभ के रूप में अपने स्रोत से काफी दूर तक होता है। यह विक्षोभ अनेक आकारों में परिदृश्य हो सकता है। पानी तरंगों में यह शीर्ष और गर्त के रूप में दृष्टिगोचर होता है। यहाँ तरंग के सबसे ऊँचे बिन्दु को शीर्ष तथा सबसे नीचे के बिन्दु को गर्त कहा गया है। हम देखते हैं कि ये शीर्ष और गर्त आगे तब तक बनते चले जाते हैं, जब तक किनारा न आ जाय। इससे प्रकट है कि पानी की ऊर्जा गोलाकार में संचरित होती हुई आगे और आगे शीर्ष और गर्त बनाती हुई बढ़ती चली जाती है।

III किसी माध्यम में ऊर्जा का संचरण नियत वेग से होता है। अतएव पानी की तरंगों में एक निश्चित समय के अन्तराल में क्रम२ से शीर्ष तथा गर्त देखे जाते हैं।

ध्वनि तरंगें वे हैं जो मस्तिष्क में शब्द–संवेदना उत्पन्न करने के लिये उत्तरदायी होती हैं। ये घण्टा आदि में अनुप्रस्थ बनती हैं। घण्टा–तरंगों के तत्काल पश्चात् तत्समीप वायु भी तदनुकूल तरंगित की जाती है। पर इसमें वायु के अणुओं के दूर२ फैले होने के कारण संसंजक बल नगण्य होने से अनुप्रस्थ तरंगें नहीं बन सकतीं। अतः वायु में अनुदैर्ध्य तरंगें बनती हैं।

वायु के दृश्य न होने के कारण हम इन तरंगों को देख नहीं सकते। अतः इनकी प्रकृति का अन्दाज लगाना थोड़ा मुश्किल है। हारमोनियम की भाथी के फैलने और सिकुड़ने की तरह इनका आकार प्रकार बनता है। इसमें घण्टा की भुजाएँ अपनी मध्यमान स्थिति से बाहर की ओर जाकर समीपस्थ वायु के अणुओं को दबाती है।। इससे वायु का दाब और घनत्व बढ़ जाता है। इसे ही वायु का सम्पीडन (compression) कहते हैं। पर जब यह घण्टे की भुजा अपने मध्यमान स्थिति से अन्दर की ओर चली जाती है तो समीपस्थ वायु के अणुओं का दबाव सामान्य से भी कम हो जाता है। इस समय वायु के अणु और दूर२ तक चले जाते हैं। इसे ही वायु का विरलन (rarefaction) कहते हैं।
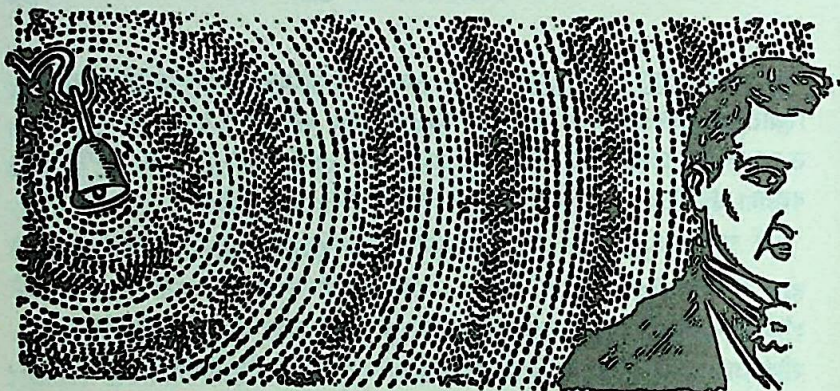
यहाँ वायु में वर्तमान ऊर्जा से उत्पन्न विक्षोभ सम्पीडन तथा विरलन के रूप में दूर२ तक पहुँच जाता है। विभिन्न स्वरित्रों से उत्पन्न वायु में विक्षोभ एक निश्चित समय में क्रमशः ये दोनों आकार धारण करते हैं। अतः इन दोनों को मिलाकर एक पूर्ण तरंग बनती है। किसी माध्यम में एक सेकेण्ड के बीच ये जितनी बार बनती हैं, उन्हें तरंगों की आवृत्ति कहते हैं।

२. तरंगें (दर्शन)– दर्शनशास्त्र में तरंगों की परिकल्पना किसी माध्यम में चलने वाली के रूप में ही है। अतः स्पष्टतः वहाँ प्रत्यास्थ तरंगों का विवेचन है।

यहाँ माना गया है कि घण्टा में प्रकम्पन के द्वारा वायु में तरंगें बनती हैं तथा तदनुकूल शब्द की तरंग बनती हैं। वहाँ इन तरंगों को प्रकट करने के लिये पानी की तरंगों का उदाहरण दिया गया है। यद्यपि ऊपर दिखाया गया है कि वायु में तरंगें कुछ भिन्न प्रकार की बनती हैं। फिर भी पानी तथा वायु दोनों में तरंग की मौलिक विशेषताएँ समान होने के कारण यहाँ पानी के उदाहरण से समझाया गया है।

वायु में तरंग बनने के सिद्धान्त का वर्णन वैशेषिक सूत्र भाष्य आदि में प्राप्त होता है। वहाँ कहा है कि दुन्दुभि में अभिघात से समीपस्थ वायु में एक विशेष प्रकार की गति उत्पन्न होती है। इससे वायु में वेग उत्पन्न होता है। इस वेग के द्वारा जब तक वायु में वीची–तरंग के सदृश विशेष गति चलती रहती है, तब तक शब्दसन्तान उत्पन्न होता रहता है[१]। स्पष्टतः यह वैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुकूल है। आधुनिक विज्ञान वायु में तरंगों के विस्तृत प्रतिपादन के द्वारा ही शब्द की व्याख्या करता है।

---

१. प्रेरणादभिघाताच्च वायौ गतिकर्मविशेषः प्रादुर्भवति। ततो वेग उत्पद्यते। यावच्च वेगकारितो वीचीतरंगवद् गतिकर्मविशेषः प्रादुर्भवति। तावच्छब्दसन्तान उत्पद्यते।

– वैशेषिक सूत्र २.१.६ पर चन्द्रकान्त भट्टाचार्य प्रणीत भाष्य।

पर प्राचीन न्याय के विद्वान् ध्वनि उत्पत्ति के लिये वायु की तरंगरूपता से विपरीत मत रखते हैं। उनका कहना है कि वायु की तिर्यग्गति (तिरछी दिशा में चलने वाली गति) ही प्रसिद्ध है, अन्य कोई नहीं[1]। अतः यहाँ पर यह वायु तरंगगति को धारण नहीं कर सकती। इस मत में वायु एक ही दिशा में तिरछा चलने वाली अपनी इस गति के द्वारा ही शब्दज शब्द को आगे बढ़ाता है।

न्याय में वायु–प्रकम्पन आदि से सर्वथा अतिरिक्त शब्द बाहरी दुनियाँ में स्वीकार्य है। इसकी शब्दज शब्द प्रक्रिया को सिद्ध करने के लिये सभी विद्वान् एक स्वर से इस 'शब्द' की तरंगरूपता का प्रतिपादन करते हैं।

पर पूर्वोक्त तरंगों की मौलिक विशेषता के आधार पर इस अतिरिक्त शब्द की आंशिक तरंगरूपता ही सिद्ध हो सकती है। क्योंकि वहाँ कहा है कि ऐसी तरंगों में माध्यम के कण अपनी मध्यमान स्थिति में ही प्रकम्पित होते रहते हैं, आगे नहीं बढ़ते। पर इस शब्द–तरंग की परिकल्पना में शब्द का कोई ऐसा माध्यम वहीं प्रकम्पित होने वाला नहीं है। यहाँ तो केवल शब्द के उत्पत्ति–विनाश के रूप में बदलते आकार नियत अन्तराल में क्रमशः आगे बढ़ते रहते हैं। पर ये बदलते आकार किस प्रकम्पित माध्यम में अवस्थित हैं, इसे हम नहीं बता सकते। क्योंकि आकाश नित्य होने के कारण प्रकम्पित नहीं हो सकता। इस प्रकार यहाँ तरंग की सभी मौलिक विशेषताएँ वर्तमान नहीं हैं।

आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से तो वायु आदि में ध्वनि–तरंगों से अतिरिक्त कोई भी शब्द इस दुनियाँ में अस्तित्वशाली नहीं है। अतः ऐसे शब्द की तरंगरूपता तथा उसके द्वारा उसका संचरण आदि सिद्ध करना अवास्तविक ही है। इससे केवल वह दृष्टि प्राप्त हो सकती है जो वायु को तरंगपूर्ण सिद्ध करने में सहायक होती है।

३. ध्वनि तरंगों के माध्यम (विज्ञान)– ध्वनि–तरंगें वायु के अलावा अन्य अनेक माध्यमों में संचरित होती हैं। पर यहाँ न्याय से तुलना के अवसर पर केवल वायुरूपी माध्यम पर विचार किया जावेगा।

वायु अन्यों से तुलना में ध्वनि–संचरण का बहुत सुस्त माध्यम है। फिर भी यह सबसे अधिक लोकप्रिय है। क्योंकि सामान्य बातचीत को सुनने के लिये इस माध्यम की अनिवार्य आवश्यकता है। हम चन्द्रमा के धरातल पर कोई बातचीत

---

१. तिर्यग्गमनवानेष ज्ञेयः स्पर्शादिलिंगकः। — कारिकावली, प्रत्यक्ष खण्ड, श्लोक ४२
कदम्बगोलकाकारशब्दारम्भो हि सम्भवेत्।
न पुनर्दृश्यते लोके तादृशी मरुतां गतिः। — न्याय मञ्जरी,प्रमाण–प्रकरण, पृ. २०६

नहीं सुन सकते। रेडियो तरंगें हों तो बात दूसरी है, क्योंकि वे निर्वात में भी चल सकती हैं।

सामान्य बातचीत में वायु के माध्यम से ध्वनि–संचरण को अनेक प्रयोगों द्वारा सिद्ध किया जाता है। इसके लिये किसी जार में बिजली की घण्टी लटका देते हैं। अब उसे कस कर वायुरोधी बना देते हैं, ताकि बाहर की वायु प्रवेश न कर सके। इस समय घण्टी बजाने पर आवाज सुनाई देती है। पर इसमें से वायुचूषण पम्प द्वारा वायु निकालने पर ध्वनि की तीव्रता कम होती जाती है। पूरी तरह निर्वात कर देने पर ध्वनि बिल्कुल नहीं सुनाई देती। इससे सिद्ध है कि बिजली की घण्टी की ध्वनि वायु–माध्यम में बनी तरंगों द्वारा ही कानों को तरंगित करते हुए मस्तिष्क तक पहुँचती हैं। इस माध्यम के न होने पर ध्वनि संचरण न होने से हमें कोई संवदेना प्राप्त नहीं हो सकती।

आजकल ऑस्सिलोग्राफ (Oscillograph) आदि यन्त्रों द्वारा स्पष्ट रीति से इन तरंगों का अध्ययन किया जा सकता है। प्रत्येक अक्षर की अलग२ तरंगें पहचानी जा सकती हैं। अतः ध्वनि–संचरण में वायु की तरंगरूपता में कोई सन्देह नहीं हैं।

३. ध्वनि–तरंगों के माध्यम (दर्शन)– न्यायशास्त्र के भी एक सम्प्रदाय में वायु–तरंगों को स्वीकार किया गया है। वहाँ इनकी उपयोगिता घण्टा से उत्पन्न एक अतिरिक्त शब्द को आगे ठेलने के लिये एक निमित्त कारण के रूप में है। इस सिद्धान्त में भी जार के अन्दर निर्वात में रखी घण्टी की आवाज नहीं सुनाई दे सकती। क्योंकि घण्टी–समीपस्थ आकाश में उत्पन्न शब्दों को कोई भी निमित्त कारण ठेल कर शब्दज–शब्द के रूप में आगे बढ़ाने वाला नहीं हैं। ऐसी दशा में इस आवाज के आगे न बढ़ पाने की स्थिति में हमारे कानों तक न पहुँच पाने के कारण यह नहीं सुनी जा सकती।

यहाँ न्यायशास्त्र की सम्मति में निर्वात आकाश में शब्द के अस्तित्वशाली होने का सामर्थ्य तो है। पर सामान्यतया इस दशा में शब्दज–शब्द प्रक्रिया न बन पाने से वह उपस्थित रहता नहीं है। पर विज्ञान के अनुसार वायु आदि किसी माध्यम के उपस्थित न होने पर हम किसी औपचारिक शब्द के अस्तित्व की भी कल्पना नहीं कर सकते।

४. ध्वनि का वेग (विज्ञान)– ध्वनि विभिन्न माध्यमों में विभिन्न वेग से संचरण करती है। अन्य माध्यमों की अपेक्षा वायु में इसके संचरण का वेग बहुत

धीमा होता है। शान्त वातावरण में 0°C पर वायु में इसका वेग ३३२ मी. प्रति सेकेण्ड होता है। पर वायु के थोड़ा गर्म होने पर 20°C में इसका वेग ३४४ मी./से. हो जाता है। जब कि इतने ही ताप वाले पानी में यह १४५७ मी./से. के वेग से तथा स्टील में ४६६० मी./से. के वेग से संचरित होता है।

ध्वनि का वेग प्रायः माध्यम के अणुओं में ताप आदि से उत्पन्न उनके औसत वेग पर निर्भर होता है। शून्य डिग्री सेल्सियस ताप पर वायु के अणुओं का जो वेग है, वही ध्वनि का वेग है। इसका 'ताप' बढ़ने पर जैसे२ अणुओं का वेग बढ़ता जाता है, वैसे२ इसके परिसंचरण का वेग भी बढ़ता जाता है।

इस विवरण से यह स्पष्ट है कि इस विश्व में सर्वाधिक वेग वाले प्रकाश तरंगों की तुलना में ध्वनि–तरंगों का वेग नितान्त तुच्छ है। इसीलिये वर्षा में आसमान में बिजली की चमक पहले दिखाई देती है, पर मेघ–गर्जन थोड़ी देर बाद सुनाई देता है। यद्यपि दोनों घटनाएँ एक साथ परिघटित होती हैं। फिर भी चमक अपनी उत्पत्ति के समकाल ही हमें उपलब्ध हो जाती है। पर मेघ–ध्वनि के हमारे पास पहुँचने में कुछ समय लगने के कारण यह हमें थोड़ी देर बाद सुनाई देती है।

वायु में ध्वनि–तरंगों के वेग के परिज्ञात होने के कारण बिजली चमकने तथा बादल गरजने के बीच के समय का ज्ञान करके धरती से गरजने वाले बादलों की दूरी को आसानी से बताया जा सकता है। इसके लिये पहले यह नोट करना चाहिये कि बिजली चमकने के कितने सेकेण्ड बाद गर्जन सुनाई पड़ा। इन सेकेण्डों की संख्या को ३ से गुणा करना चाहिये। इससे जो संख्या प्राप्त हो, लगभग उतने ही सौ मीटर दूर स्थित बादल से बिजली चमकी होगी।

४. ध्वनि का वेग (दर्शन)– दर्शनशास्त्र में भी यह भली भाँति जान लिया गया था कि प्रकाश की तुलना में ध्वनि का वेग बहुत कम होता है। बिजली की चमक का एक अन्वर्थ नाम 'आकालिकी' है। इसका अर्थ 'अपने जन्म के समकाल ही विनष्ट होने वाली' यह है[1]। पर ध्वनि को यह नाम कभी नहीं दिया गया है।

न्याय वात्स्यायन भाष्य में इसके लिये बहुत रोचक उदाहरण दिया गया है। वहाँ कहा है कि व्यंजक प्रकाश के विलुप्त होने के समकाल ही अँधेरा छा जाता है तथा कोई वस्तु नहीं दिखाई पड़ती। पर यदि कोई मनुष्य सुदूर स्थान

---

१. आकालिकडाद्यन्तवचने। – अष्टाध्यायी सूत्र ५.१.११४
आकालिकी विद्युत्, जन्मना तुल्यकालविनाशा। – उक्त सूत्र पर काशिका।

में लकड़ी काट रहा हो तो उसकी कुल्हाड़ी के लकड़ी पर प्रहार के समकाल नहीं, अपितु लकड़ी से कुल्हाड़ी को हटा लेने के पश्चात् उसकी आवाज सुनाई देती है[1]। इस प्रकार समकालीन घटना होने पर भी कोई प्रेक्षक प्रकाश्य वस्तु-कुल्हाड़ी के प्रहार को पहले, पर ध्वनि को बाद में सुनता है।

आधुनिक युग में इसके समतुल्य उदाहरण यह हो सकता है कि क्रिकेट के खेल में देखने वालों को गेंद की हिट लगती हुई पहले दिखाई देती है, पर उसकी आवाज थोड़ी देर बाद सुनी जाती है।

इस उदाहरण से यह सर्वथा स्पष्ट है कि प्रकाश की तुलना में ध्वनि का वेग बहुत कम होता है।

---

१. दारुव्रश्चने दारुपरशुसंयोगनिवृत्तौ दूरस्थेन शब्दो गृह्यते, न च व्यंजकाभावे व्यंग्यग्रहणं भवति।
— न्यायसूत्र २.२.१३ पर वात्स्यायन भाष्य।

११. ध्वनि पर न्याय से इतर दर्शन तथा आधुनिक विज्ञान।

ध्वनि विषय पर न्याय से भिन्न दर्शनों में भी पर्याप्त विचार किया गया है। उनमें भी आधुनिक विज्ञान के समकक्ष अनेक सिद्धान्त प्राप्त होते हैं। उनका विवरण इस प्रकार है–

१. ध्वनि के वायु के अलावा अन्य अनेक माध्यम (विज्ञान)– ध्वनि वायु के साथ२ पानी, लोहा, पीतल आदि अनेक माध्यमों में बनने वाली तरंगों से एकाकार होते हुए दूर२ तक परिसंचरण कर सकती है। वायु की अपेक्षा द्रव तथा द्रव की अपेक्षा ठोस इसके अधिक वेगशाली संवाहक होते हैं। क्योंकि इनमें उत्तरोत्तर अधिक अच्छा प्रत्यास्थता गुणांक होने से अधिक अच्छा प्रकम्पन होता है। सामान्यतः जो पदार्थ ऊष्मा के सुचालक होते हैं, वे ध्वनि के भी सुचालक होते हैं तथा जो पदार्थ ऊष्मा के कुचालक हैं, वे ध्वनि के भी कुचालक होते हैं। जिन वस्तुओं में चालन (conduction) नामक विधि से ऊष्मा का परिसंचरण आसानी से नहीं होता, उन्हें ऊष्मा का कुचालक कहा जाता है। कम्बल, तकिया आदि इसी प्रकार के हैं। ये ध्वनि के भी कुचालक होते हैं।

२. ध्वनि के वायु के अलावा अन्य अनेक माध्यम (दर्शन)– वेदान्त आदि दर्शनों में भी माना है कि शब्द सभी महाभूतों के माध्यम से परिसंचरण करता है[1]। यहाँ दर्शन की अपनी प्रक्रिया के अनुसार इसका अर्थ विज्ञान से थोड़ा भिन्न है। दर्शन का आशय यह है कि किसी भी महाभूत में प्रकम्पन के द्वारा उस महाभूत के ही अणुओं में शब्द नामक एक अतिरिक्त गुण उत्पन्न होता है, यह प्रकम्पन इस शब्द का सबसे सन्निहित कारण होता है। अतः जो वस्तुएँ अधिक प्रकम्पनक्षम हैं, उनमें अधिक शब्द गुण उत्पन्न होते हैं।

इन दर्शनों में लौकिक अनुभूति के अनुरूप यह मान्य है कि घण्टा बजाने पर उस घण्टा में ही शब्द उत्पन्न होता है। ये दर्शन न्याय के समान यह नहीं मानते कि उस समय यह घण्टा में उत्पन्न न होकर तत्संयुक्त आकाश में उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार स्पष्टतः वेदान्त आदि दर्शन विज्ञान के अनुरूप ध्वनि के अनेक माध्यमों को स्वीकार करते हैं।

---

१. द्रष्टव्य–न च शब्दस्याकाशमात्रगुणत्वम् .... इत्यादि द्वितीय परिच्छेद पर टिप्पणी।

३. वायु में ध्वनि–तरंगों का वेग वायु की गति से प्रभावित होता है (विज्ञान)– पिछले परिच्छेद में कहा गया है कि शान्त वातावरण में ध्वनि–तरंगों का वेग ३३२ मी. प्रति सेकेण्ड होता है। पर तीव्रगामी वायु ध्वनि–तरंगों के इन संहननों को अपने साथ बहा ले जाती है। अतः यदि ध्वनि का वेग C हो और पवन का वेग W हो तो पवन की दिशा में ध्वनि का वेग C+W तथा विपरीत दिशा में यह C-W हो जाता है।

२. वायु में ध्वनि–तरंगों का वेग वायु की गति से प्रभावित होता है (दर्शन)– इस तथ्य को दर्शन में भी अनेक उदाहरणों से सिद्ध किया जाता है। जैन दर्शन में कहा है कि प्रतिकूल वायु में निकट का शब्द भी नहीं सुनाई पड़ता पर अनुकूल वायु में दूर का शब्द भी सुनाई पड़ता है तथा उसके स्पर्श का प्रत्यक्ष भी होता है। इससे मान्य है कि वायु के आश्रय स्पर्श के साथ२ उसके आश्रय शब्द भी सामान्य से तीव्र गति से हमारे पास पहुँचते हैं[1]।

---

१. शब्दाश्रयः स्पर्शवान्। अनुवातप्रतिवातयोर्विप्रकृष्ट–निकट–शरीरिणोपलभ्यमानानुपलभ्य–मानेन्द्रियार्थत्वात्। तथाविधगन्धाधारद्रव्यपरमाणुवत्।
– स्याद्वादमञ्जरी श्लोक १४ पर अन्ययोगव्यवच्छेद टीका पृ. १२६–१२७

१२. न्याय दर्शन तथा टेलीफोन।

क्या न्याय के सिद्धान्तों द्वारा टेलीफोन बन सकता है?

उत्तर होगा—हाँ, बन सकता है। अगर वायु आदि में क्रियारूपी ध्वनि — तरंगों से अतिरिक्त बाह्य गुणरूपी शब्द के सिद्धान्त को छोड़ दिया जाय तो।

—पर यह कैसे हो सकता है। बाह्यार्थवाद न्याय की मौलिकता है, न्याय की पहचान है : एक नैयायिक ने प्रतिवाद किया।

फिर भी अगर थोड़ी देर के लिये इस सिद्धान्त को अलग कर दें तो हम यह पाते हैं कि न्याय के सिद्धान्त टेलीफोन के सर्वाधिक समीप हैं। न्याय ने भौतिक सिद्धान्तों की गम्भीर परीक्षा के द्वारा इस टेलीफोन की परिकल्पना के लिये स्थान प्रदान किया है। यों पुराणों में आकाशवाणी तथा नाट्यशास्त्र में आकाश—भाषित जैसे प्रयोगों से यह परिकल्पना अन्यत्र भी मुखर होती रही है।

विदेशों में भी भौतिक पदार्थों तथा इन्हें ग्रहण करने वाले ज्ञानेन्द्रियरूपी उपकरणों के भली भाँति अध्ययन के द्वारा अनेक प्रकार के आविष्कार सम्भव हो सके हैं। पिछले खण्ड में बताया गया है कि आँखों के अनुकरण पर कैमरा का विकास हुआ है। इसी प्रकार कानों की सूक्ष्म संरचना के अध्ययन से टेलीफोन का आविष्कार सम्भव हो सका है।

कानों के सम्बन्ध में यह जाना गया कि यह वायु—तरंगों को ग्रहण करता है। वे वायु—प्रकम्पन जिन्हें हम न तो देख सकते हैं, न ही अन्य किसी प्रकार अनुभव कर सकते हैं, उनके अनुरूप हमारा कर्ण—पटह अथवा कान का पर्दा प्रकम्पित होने का सामर्थ्य रखता है। इसके पश्चात् अस्थि—प्रकम्पन आदि के माध्यम से नाड़ी—तन्त्र के विद्युत् आवेगों के द्वारा इस प्रकम्पन की सूचना सुदूर मस्तिष्क के श्रवण—संवेदी क्षेत्र में पहुँचा दी जाती है।

टेलीफोन के आविष्कारक डा. ग्राहम बेल यह सोचा करते थे कि जब इतना पतला तथा इतना छोटा कान का पर्दा ध्वनि या किसी शब्द के छोटे से छोटे वायु—प्रकम्पनों के अनुरूप प्रकम्पित होकर उन्हें अंकित कर सकता है तथा इस अंकन को मस्तिष्क तक भेज सकता है तो बाहरी दुनियाँ में ऐसा क्यों नहीं हो सकता। इसे सिद्ध करने के लिये वे अनेक प्रकार के प्रयोग किया करते थे। वे अपने मित्रों से कहते थे कि 'जब कान की छोटी सी चकती (disk) पूरी हड्डी

को प्रकम्पित कर सकती है, तो ऐसा तो होना ही चाहिये कि कोई लोहे की चकती किसी लोहे की छड़ को या कम से कम एक तार को उसी प्रकार प्रकम्पित कर सके।

जैसा कि प्रायः सभी आविष्कारों में हुआ है, उनके मित्रों ने उनकी इस परिकल्पना का खूब मजाक उड़ाया। दो धनी मित्र जो उन्हें आर्थिक सहायता प्रदान किया करते थे, उन्होंने अन्ततः अपनी सहायता बन्द कर दी तथा कह दिया कि जब तक वह अपने इन पुराने विचारों पर प्रयोग करना बन्द नहीं करेंगे, उन्हें कोई सहायता नहीं दी जावेगी। इसके साथ ही वह व्यक्ति जिसने अपनी लड़की के साथ सगाई की थी, उसने तब तक विवाह के आयोजन से मना कर दिया, जब तक डा. बेल 'मूर्खतापूर्ण टेलीफोन' के विचार को छोड़ नहीं देते[1]!!

वैसे डा. बेल द्वारा इन प्रयोगों का मूल उद्देश्य किसी ऐसे उपकरण को विकसित करना था, जिससे बहरे लोग इन वायु–तरंगों को 'देख' सकें। इसके लिये उन्होनें चुम्बक के दो टुकड़े अलग २ कुछ दूरी पर रखे। इन्हें एक तार से जोड़ दिया। पहले चुम्बक के सामने तथा दूसरे चुम्बक के अन्त में भी एक लोहे का पतली संवेदनशील पट्टिका (reed) रखी तथा इनमें विद्युत् धारा प्रवाहित की। अब जब कोई पहली पट्टिका (reed) के सामने कोई अक्षर बोलता था तो उसके प्रकम्पन से वैसे ही बिजली के प्रकम्पंन तार के माध्यम से अगले चुम्बक तक पहुँचते थे। इससे वह दूसरी पट्टिका (reed) प्रकम्पित होती हुई कभी तो उस चुम्बक के सामने आगे जाती थी तथा कभी उसके ऊपर नीचे झुक जाती थी। इससे गूँगों को यह दिखाया जा सका कि ये ध्वनि–तरंगें अन्ततः किन अक्षरों का प्रतिनिधित्व करती हैं। इस दिशा में कार्य करते हुए उनके दिमाग में टेलीफोन का विचार आ गया था।

इस पर सबसे पहला तथा सबसे रद्दी किस्म का, परन्तु सफल प्रयोग मृत व्यक्ति के कान के द्वारा सम्पन्न हुआ था। डा. बेल यह जान चुके थे कि कान का पर्दा ही सबसे बढ़िया प्रकम्पनशील माध्यम है। अतः उन्होंने एक मरे हुए व्यक्ति का कान लिया, उसके पर्दे के साथ एक तिनका या तार को जोड़ दिया तथा उस तार

1. 'If this tiny disk can vibrate a bone', he said to some friends, 'then an iron disk ought to be able to vibrate an iron rod, or an wire at least', His friends laughed at him; two rich men, who had been assisting him with money in his experiements, refused to have anything more to do with him unless he kept to his old ideas; and the man whose daughter was engaged to marry said he would refuse to allow to marriage to take place unless Dr. Bell abandoned the 'foolish telephone'.

-Harmsworth popular science, London, I part, page 704

का दूसरा सिरा एक धुँआ भरे हुए शीशे की प्लेट से जोड़ दिया। अब बेल ने उस कान में कुछ कहा। तब कान का पर्दा तथा उसके अनुकूल वह तार भी तरंगित हुआ। इससे उस धुँए–भरी प्लेट में कुछ खँरोच बन गई। इस 'रद्दी' प्रयोग से उस वस्तु का विकास हुआ, जिसे आज हम 'टेलीफोन' के नाम से पुकारते हैं[1]। इस प्रयोग से वे केवल गूँगें, बहरों की ही नही, अपितु समूची मानव–जाति की सेवा कर सके !!

आजकल प्रयुक्त टेलीफोन में एक डायफ्राम (diaphragm) अथवा संवेदनशील पर्दा होता है। इसका सम्बन्ध तार द्वारा विद्युच्चुम्बकीय कुण्डली से होता है। इसमें बिजली की धारा प्रवाहित की जाती है। इस कुण्डली में ताँबे का तार जोड़कर दूर रिसीवर तक ले जाते हैं। इसमें भी उसी प्रकार डायफ्राम तथ विद्युच्चुम्बकीय कुण्डली होती है।

अब शब्द बोलने पर यह पर्दा ध्वनि–तरंगों के अनुरूप स्पन्दित होता है। तब उससे जुड़ी कुण्डली की विद्युत् धारा भी ठीक उसी प्रकार स्पन्दित होती है। विद्युत् का यह स्पन्दन तार के द्वारा दूर भेज दिया जाता है। यह तार रिसीवर की उस कुण्डली को भी ठीक उसी प्रकार स्पन्दित करता है। डायाफ्रम इस स्पन्दन को लेकर हवा में उसी प्रकार तरंगें बनाता है। यही तरंगें हमें शब्द के रूप में सुनाई पड़ती है।

यहाँ न्यायशास्त्र के सिद्धान्त टेलीफोन के सिद्धान्तों के अनुरूप हैं। क्योंकि न्याय में भी प्रकम्पन को ध्वनि का कारण माना है। न्याय के एक सम्प्रदाय में वायु–तरंगें भी स्वीकार्य हैं। इन वायु–तरंगों को निमित्त कारण बताते समय सावधानीपूर्वक 'आदि' पद का प्रयोग करते हुए[2] इस सम्भावना को स्थान दिया है कि वायु के अलावा तरंगित डायफ्राम या पर्दा भी शब्द का निमित्त कारण बन सकता है।

---

1. Dr. Bell worked all this out, with the ear of a dead man. At the back of the ear he placed a straw, that touched with one end of the ear-drum; the other end of the straw was set close to a piece of smoked glass. Bell spoke into the ear, and the vibrations of the drum acted on the straw, which, in turn, made tiny markings upon the glass. Out of this rather gruesome experiment came the great discovery. The telephone was actually born in the ear of a dead man.

-Harmsworth popular science, London I part, page 704

२. पवनादिकन्तु निमित्तम् —मुक्तावली टीका।

पर इस सिद्धान्त में मुख्य बाधा वही है, जिसका उल्लेख सबसे ऊपर किया गया है। न्याय के विद्वान् वायु की तरंगों के द्वारा एक सर्वथा–अतिरिक्त ज्ञानबाह्य गुणरूप शब्द को शब्दज–शब्द प्रक्रिया से आगे बढ़ाना चाहते हैं तथा इस अतिरिक्त शब्द से शब्द–संवेदना प्राप्त करना चाहते हैं। यहाँ विज्ञान का कहना है कि ध्वनि–तरंगों को विद्युत् तरंगों में बदलने का तथा उन्हें सुदूर भेजने का उपाय तो है। पर इस अतिरिक्त 'शब्द' को भेजने का अभी तक कोई उपाय विकसित नहीं है। टेलीविजन में चित्र की असंख्य प्रकाश–तरंगों को विद्युत् तरंगों में बदलकर इन्हें भेजने का उपाय तो है, पर दृश्य रंग–बिन्दु तथा इनसे अतिरिक्त 'चित्र' द्रव्य भेजने का कोई उपाय नहीं।

रंगीन टेलीविजन में सुदूर दृश्य पदार्थों से उनके रंग नही भेजे जाते। अपितु दृश्य वस्तु के प्रस्तरण (scanning) के द्वारा निर्मित असंख्य दृश्य–बिन्दुओं पर प्रतिक्षिप्त प्रचण्ड प्रकाश को फोटो एलेक्ट्रिक सेल पर डाला जाता है। इससे निर्मित विविध विद्युत् तरंगों को दूर भेजकर ग्राहक स्थल पर पुनः उसी प्रकार की प्रकाश–तरंगों को टेलिविजन के पर्दे पर डाला जाता है। ये अलग २ लम्बानों वाली प्रकाश–तरंगें ही रंग संवेदना उत्पन्न करती हैं। साथ ही यहाँ विविध विद्युत् तरंगों से परिवर्तित तथा पुनः निर्मित वायु की ध्वनि–तरंगें ही मस्तिष्क में शब्द संवेदना उप्पन्न करती हैं।

इसलिये आधुनिक विज्ञान में वायु आदि की इन ध्वनि–तरंगों से कोई अतिरिक्त बाह्य गुण–रूपी शब्द मान्य नहीं हैं तथा विविध लम्बानों वाली प्रकाश–तरंगों से अतिरिक्त बाह्य गुणरूपी रूप–रंग का अस्तित्व स्वीकार्य नहीं है। वास्तव में ध्वनि–तरंगों के प्रभाव से मस्तिष्क में शब्द–संवेदना उत्पन्न हो जाती है तथा प्रकाश–तरंगों के प्रभाव से रंग–बिन्दु तथा उनसे चित्र–संवेदना उत्पन्न हो जाती है।।

---

१३. हम कानों से कैसे सुनते हैं।

प्राणियों में सुनने वाले उपकरण को दर्शनशास्त्र में 'श्रवण–इन्द्रिय' नाम दिया गया है। इसे इन्द्रिय कहने का मौलिक कारण यह है कि यह 'इन्द्र' अर्थात् आत्मा की पहचान है[1]। प्राणियों में आत्मा मन के माध्यम से श्रवण–सहित सभी इन्द्रियों से सम्बद्ध रहते हुए उनमें परस्पर तदनुकूल क्रियाएँ सम्पन्न कराता है। इसीलिये हम क्रमिक अक्षरों को सुनकर पूरे पद तथा वाक्य को बोलते तथा समझते हुए उसके अनुसार कार्य करते हैं[2]। मनुष्यों में बोलना क्रिया अन्य इन्द्रियों की तरह अनायास नहीं होती। अपितु बचपन् में अक्षर तथा पदों को सुनने के द्वारा धीरे२ यह सम्भंव हो पाती है। इससे प्रकट है कि हमारे कानों से सम्बद्ध आत्मा है जो कि सुनने के अनुकूल शब्द बोलने के लिये मन के माध्यम से वाणी को प्रेरित क.ती है। इस प्रकार इस सुनने वाले उपकरण 'श्रोत्र' से आत्मा की पहचान मिलने से इसे इन्द्रिय कहा जाता है।

इस श्रोत्र को पारिभाषिक रूप से 'कर्ण' अथवा कान से पृथक् समझा जाता है। सुनने वाला उपकरण 'श्रोत्र' ही है। कर्ण तो वह 'स्थान' अथवा डिब्बा जैसा है, जिसमें श्रोत्र निवास करता है। फिर भी आगे चलकर संस्कृत में तथा हिन्दी आदि में भी 'कान' का प्रयोग इन्द्रिय के लिये होता रहता है।

श्रोत्र इन्द्रिय की उत्पत्ति– वेद एवम् उपनिषदों में श्रोत्र की उत्पत्ति के विषय में अनेक विवरण प्राप्त होते हैं। दर्शनशास्त्रों में अपनी२ सुविधानुसार इन्हें थोड़ा बदल कर मान्यता प्रदान की गई है। उपनिषद् में माना है कि अग्नि वाणी के रूप में मुख में प्रविष्ट हुई तथा दिशाएँ श्रोत्र के रूप में कान में प्रविष्ट हुईं[3]। वेदान्त में अपनी एक विशेष प्रक्रिया के अनुसार यह माना है कि आकाश के राजस अंश से वाणी तथा आकाश के ही सात्त्विक अंश से श्रोत्र उत्पन्न हुआ है[4]। यह मान्यता प्रमुखतः इस तर्क पर अवलम्बित है कि सृष्टि में जो गुण जिस महाभूत

---

१. इन्द्रियमिन्द्रलिंगम् ..... —अष्टाध्यायी ५.२.९३
इस सूत्र में इन्द्रिय को इन्द्र का लिंग या पहचान बताया गया है।

२. क्रमभाविनो वर्णान् श्रुत्वा पदवाक्यभावं प्रतिसन्धाय शब्दार्थव्यवस्थां च बुध्यमानोऽनेक–विषयमर्थजातमग्रहणीयमेकैकेनेन्द्रियेण गृह्णाति।
—न्याय सूत्र३.१.४३ पर वात्स्यायन भाष्य।

३. अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्....दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशत्।
—ऐतरेय उपनिषद् १.२.४

४. द्रष्टव्य–वेदान्त परिभाषा, विषयपरिच्छेद, वेदान्तसार–सूक्ष्म–शरीरोत्पत्ति–प्रकरण इत्यादि।

में सबसे पहले उत्पन्न हुआ, उसी महाभूत से उस गुण को उत्पन्न करने तथा ग्रहण करने वाली इन्द्रिय निर्मित होनी चाहिये। वेदान्त में श्रुति के प्रमाण के अनुसार सबसे पहले शब्द गुण वाला आकाश उत्पन्न हुआ। अतः इस आकाश से ही वाणी तथा श्रोत्र की उत्पत्ति मान्य है।

दर्शन–जगत् में यह मान्यता बहुत लोकप्रिय हुई। अतः न्याय ने वेदान्त का उल्लेख न करते हुए तथा अपना तर्क प्रस्तुत करते हुए थोड़े परिवर्तन के साथ इसे अपना लिया है। उनके अनुसार घ्राण तथा श्रोत्र इन्द्रिय जिस विशेष गुण को ग्रहण करती हैं, वह उस विशेष गुण वाले महाभूत से निर्मित होती है, जिस विशेष गुण की आधारता उसका लिंग अथवा लक्षण हो[1]। जैसे घ्राण इन्द्रिय गन्ध को ग्रहण करती है। इस गन्ध का आधार होना पृथिवी का लक्षण है। अतः यह पार्थिव तत्त्व से निर्मित है।

इसी प्रकार श्रोत्र इन्द्रिय शब्द को ग्रहण करती है। शब्द का आधार होना आकाश का लक्षण है। अतः परिसीमित आकाश ही श्रोत्र है। यहाँ वेदान्त के समान श्रोत्र को आकाश से निर्मित नहीं कहा गया। क्योंकि आकाश नित्य है। अतः न्याय की परिभाषा में कर्ण शष्कुली से अवच्छिन्न आकाश ही श्रोत्र होता है[2]। इस दर्शन की सम्मति में क्योंकि शब्द आकाश के अलावा कहीं भी समवेत नहीं होता। इसलिये भी शब्द ग्रहण करने वाले श्रोत्र को आकाश स्वरूप ही होना चाहिये।

वेद–मन्त्र आधुनिक विज्ञान के अनुरूप– श्रोत्र के विषय में वेदों से भी कुछ संकेत प्राप्त होते हैं। पुरुष सूक्त का एक प्रसिद्ध मन्त्र इस प्रकार है–

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।

श्रोत्राद् वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत।। —यजुर्वेद ३१.१२

अर्थात् उस पुरुष–विशेष ईश्वर के मन से चन्द्रमा, चक्षु से सूर्य, श्रोत्र से वायु तथा प्राण, मुख से अग्नि उत्पन्न हुई। यहाँ आलंकारिक वर्णन के द्वारा चक्षु तथा श्रोत्र से उन२ पदार्थों की उत्पत्ति दिखाई गई है, जो उन२ इन्द्रियों से ग्रहण किये जाने वाले गुणों के प्रकाशक हैं। जैसे–चक्षु रूप को ग्रहण करता है। अतः

---

१. यह कथन 'यस्य बाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्य–विशेषगुण–ग्राहकं यदिन्द्रियं तत् तद् गुणकम्' – न्यायकन्दली पृ० १२४ के आधार पर प्रस्तुत है।

२. शब्दोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं श्रोत्रम्। तच्च कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नम् आकाशमेव ।
—तर्कभाषा, प्रमेयनिरूपण, पृ० १६७

ईश्वर के चक्षु से बाहरी दुनियाँ में रूप का प्रकाशक सूर्य उत्पन्न हुआ। इसी प्रकार श्रोत्र से शब्द का ग्रहण होता है। अतः इस मन्त्र की भावना के अनुसार ईश्वर के श्रोत्र से वही उत्पन्न होना चाहिये जो इस विश्व में शब्द का प्रमुख प्रकाशक है। अब यहाँ क्योंकि श्रोत्र से वायु की उत्पत्ति बताई गई है। अतः इस वर्णन से वायु के शब्द–प्रकाशक होने का संकेत मिलता है। साथ ही जिस प्रकार सामान्य प्राणियों का चक्षु रूप के परम–प्रकाशक सूर्य के तेजस्तत्त्व से निर्मित होता है, इसी प्रकार हम लोगों का श्रोत्र शब्द के प्रमुख प्रकाशक वायु–तत्त्व से निर्मित है– यह संकेत भी प्राप्त होता है।

अगले मन्त्र में कहा है कि उस पुरुष विशेष ईश्वर का श्रोत्र ही दिशाएँ हैं[1]। इसका आशय यह प्रतीत होता है कि ईश्वर का शब्द–ग्राहक श्रोत्र तथा बाहरी दुनियाँ में शब्द का प्रकाशक वायु– ये दोनों व्यापक होने से दिशाओं के अनुरूप हैं।

उपनिषदों ने भी वेद से आशय ग्रहण करते हुए यह संकेत दिया है कि व्यापक होने से वायु सदृश दिशाएँ ही श्रोत्र बनकर कानों में प्रविष्ट हुईं। इससे प्रकट है कि इनके अनुसार श्रोत्र की उत्पत्ति या उसके व्यापार में वायु साधकतम करण होता है।

आधुनिक विज्ञान का भी ऐसा ही मानना है। उसके अनुसार सुनने की प्रक्रिया में वायु की ध्वनि–तरंगें ही कान के पर्दे को तदनुकूल प्रकम्पित करती हैं। यद्यपि घण्टा आदि में भी ये तरंगें बनती हैं। पर इन्हें सुनने के लिये भी वायु–तरंगें ही समीपतम उपाय हैं। अतः स्पष्ट है कि कानों में वायु–तरंगों का सर्वाधिक प्रभाव है।

श्रोत्र से शब्द–ग्रहण की प्रक्रिया (दर्शन)– दर्शनशास्त्र में अपनी सुविधा तथा तर्कों के अनुसार कानों से परिसीमित आकाश को ही श्रोत्र स्वीकार किया है। इसका 'शब्द' नामक गुण के साथ समवाय अर्थात् नित्य–सन्निकर्ष होना शब्द के सविकल्पक ज्ञान का 'करण' अर्थात् सबसे सन्निहित साधन है[2]। इस सन्निकर्ष के तत्काल पश्चात् आत्मा में निर्विकल्पक ज्ञान पूर्वक शब्द–ज्ञान उत्पन्न होता है। अथवा यह कहें कि इस सन्निकर्ष के बाद शब्द–ज्ञान उत्पन्न हुए बिना रह नहीं सकता।

---

१. पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकां अकल्पयन्। – यजुर्वेद ३१.१३

२. यदा श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दो गृह्यते, तदा श्रोत्रमिन्द्रियं, शब्दोऽर्थः। अनयोः सन्निकर्षः समवाय एव।
– तर्कभाषा, प्रत्यक्ष निरूपण पृ. ५५

इस व्याख्या का स्पष्ट अर्थ निकलता है कि यहाँ कर्णशष्कुली आदि का अधिकतम उपयोग आकाश–स्वरूप श्रोत्र को परिसीमित या सुरक्षित करना है। इनकी सम्पूर्ण उपयोगिता यहीं समाप्त हो जाती है। क्योंकि इस श्रोत्र के साथ शब्द–सन्निकर्ष के पश्चात् अब शब्द–ज्ञान रूपी फल के लिये इनकी कोई क्रिया नहीं होनी है।

ऐसी दशा में प्रश्न हो सकता है कि हम कर्ण– पटह या कान का पर्दा तथा कान की अस्थियों के प्रकम्पन आदि को किस प्रकार श्रवण का कारण निरूपित करेंगे। क्योंकि कर्ण–शष्कुली से सीमित आकाश के साथ शब्द का समवाय होने के तत्काल पश्चात् शब्द–प्रत्यक्ष होने की स्थिति में अब इनकी कारणता को कैसे सिद्ध किया जा सकता है।

दर्शनशास्त्र में भी अन्य शब्दों में यह प्रश्न उठाया जाता रहा है। न्याय–कन्दली में कहा है कि सुनने में शब्द–सन्निकर्ष के अलावा अन्य किसी अंग या उनकी क्रिया की उपयोगिता तो है नहीं। तब फिर बहरे को भी सुनाई पड़ना चाहिये। क्योंकि कर्ण·शष्कुली तो उसके पास भी होती ही है[1]।

वहाँ इसका उत्तर यह दिया गया है कि आकाश के नित्य होने पर भी यह मनुष्य के धर्म, अधर्म की विकलता के कारण होता है। न्याय के अनुसार धर्म तथा अधर्म आत्मा में रहने वाले 'अदृष्ट' नामक गुण के अन्तर्गत हैं, जो क्रमशः पुण्य तथा पाप कार्यों से उत्पन्न होते हैं तथा फल.भोग के द्वारा जिनका विनाश.होता है[2]। इस प्रकार इस विवरण के अनुसार कान की सभी बीमारियाँ मनुष्य के पूर्वजन्मों के खराब कर्मों का फल है, जिसके भोग के पश्चात् ही उनका निवारण हो सकता है !

न्याय–कन्दली से पूर्व जरन्नैयायिक[3] जयन्त भट्ट ने भी अपनी न्याय–मञ्जरी में इस प्रकार प्रश्न किया है कि आप आकाश को श्रोत्र बताते हैं। इस आकाश में कभी दोष तो आ नहीं सकता। अतः यह सदा संस्कृत रहेगा। इस प्रकार सब लोगों के आकाशाभिन्न श्रोत्र भी सदा संस्कृत रहेंगे। तब फिर मनुष्य बहरा क्यों होता है?

---

१. नन्वेमपि बधिरस्य शब्दोपलब्धिः स्यात्, कर्णशष्कुली–सद्भावादत आह–तस्य चेति। तस्याकाशस्य नित्यत्वेऽप्युपनिबन्धकयोर्धर्माधर्मयोः सहकारिभूतयोर्वैकल्याद् बाधिर्यम्।

—प्रशस्त–पाद–भाष्य, आकाश–प्रकरण पर न्याय–कन्दली पृ. १५५

२. धर्माधर्मावदृष्टं स्यात्, धर्मः स्वर्गादिकारणम्।
........इमौ तु वासनाजन्यौ ज्ञानादपि विनश्यतः। —कारिकावली श्लोक १६४
अपिना भोगपरिग्रहः । — उक्त श्लोक पर दिनकरी

३. नव्य न्याय के जनक गंगेश उपाध्याय ने इन्हें यह उपनाम प्रदान किया है!

इसका उत्तर वही है– मनुष्य के पाप से उत्पन्न अधर्मरूपी अदृष्ट के फलस्वरूप ऐसा होता है[1]।

वैद्यक–ग्रन्थों में कान का बहना आदि अनेक रोग तथा उनके निवारण की विस्तार से चर्चा है। ये रोग प्रमुखतः श्रोत्र के निवास–स्थान कान से सम्बन्धित हैं। कहीं२ बाधिर्य का भी वर्णन है। भाव–प्रकाश में इसका कारण यह बताया है कि जब शब्द को आगे बढ़ाने वाली वायु कफ से परिपूर्ण होकर स्रोत को रोक ले, तब बहरापन होता है[2]।

श्रोत्र से शब्द–ग्रहण की प्रक्रिया (विज्ञान)– किसी घण्टा आदि के प्रकम्पन से वायु में उत्पन्न ध्वनि–प्रकम्पन या शब्द–तरंगें कर्णशष्कुली तथा कर्णकुहर के मार्ग से अन्दर पहुँचती है। कर्ण–शष्कुली में ये शब्द तरंगें एकत्र होकर कर्णकुहर के कुछ टेढ़े तथा लम्बे मार्ग से चलकर कर्ण–पटह या कान के पर्दे में प्रविष्ट होती हैं। इस प्रकार कर्ण–शष्कुली तो केवल ध्वनि–तरंगों के आगे जाने का रास्ता है, अथवा दर्शन के शब्दों में केवल 'इन्द्रिय–प्रणालिका' है। सुनने का असली व्यापार तो इसके आगे होता है।

इस मार्ग से वायु की ध्वनि–तरंगें कर्ण–पटह में प्रविष्ट होकर इस पर्दे को उसी प्रकार प्रकम्पित करती हैं। इसके भीतर ३ अस्थियाँ होती हैं। इनमें रकाब के आकार की धरणक (stapes) नामक अस्थि सबसे मुख्य है। ये पर्दे के प्रकम्पन को ठीक उसी प्रकार अंकित करते हुए धरणक के अन्तिम भाग में स्थित कर्णावर्त (cochlea) की जलपूर्ण आरोही अवरोही नालिकाओं तक पहुँचाती है। यह कर्णावर्त या कॉक्लिया ढाई चक्रों में कुण्डलित होता है। यहाँ स्वरादानिका (organ of corti) नामक श्रवण–संवेदी अंग की रौमिक कोशिकाएँ नालिकाओं के द्रव तक प्रतिक्षिप्त रहती हैं। यहाँ कर्णकुहर की वायु–तरंगों के अनुरूप धरणक की अस्थियों के प्रकम्पन जलतरंगों में बदल जाते हैं। इन तरंगों के प्रत्येक कम्पन के प्रहारों को स्वरादानिका की रौमिक कोशिकाओं के द्वारा नाडीय विद्युत् आवेगों के रूप में मस्तिष्क के श्रवण–संवेदी क्षेत्र तक पहुँचाया जाता है। मस्तिष्क में इन प्रकम्पनों की व्याख्या विभिन्न शब्दों के रूप में की जाती है।

---

१. आकाशं च श्रोत्रमाचक्षते भवन्तः ....तस्मिन् संस्कृते सति सर्वे च तदैव संस्कृतकरणाः प्राणिनः सम्पन्ना इति सर्व एव श्रृंणुयुः।
समाधान– धर्माधर्मनिबन्धन एव बधिरेतरविभागः। —न्याय–मञ्जरी पृ. १६४

२. यदा शब्दवहो वायुः स्रोतसावृत्य तिष्ठति।
शुद्धश्लेष्मान्वितो वापि बाधिर्यं तेन जायते। — भाव–प्रकाश, कर्णरोगाधिकार।

श्रोत्र के ये अंग इतने बढ़िया संवेदनशील हैं कि ये सभी ध्वनि–तरंगों को ग्रहण करते हुए इन्हें उसी प्रकार तथा ठीक उतनी ही आवृत्ति में नाड़ी–सूत्रों के द्वारा मस्तिष्क तक पहुँचाने का सामर्थ्य रखते हैं[1]। हमारा मस्तिष्क इन तरंगों को अलग२ ग्रहण करते हुए भी प्रकम्पन के रूप में नहीं, अपितु शब्द के रूप में इनका अनुभव करता है। अतएव हम असंख्य प्रकार के अलग२ प्रकम्पनों को अलग२ ध्वनियों के रूप में पहचानते हैं।

सामान्यतः ये प्रकम्पन वायु–तरंगों के द्वारा ही श्रोत्र तक पहुँचते हैं। पर यदि अन्य किसी उपाय से इन प्रकम्पनों को श्रोत्र तक पहुँचाया जा सके, तो भी शब्द का अनुभव हो सकता है। जैसे यदि चाभी से चलने वाली किसी घड़ी को दाँतों से दबा लिया जाय तथा दोनों कानों को उँगलियों से बन्द कर लिया जाय तो आराम से उसकी टिक् टिक् आवाज सुनाई पड़ती है। इस घड़ी को कान के ऊपर रखने से जितनी आवाज सुनाई देती है, उसकी अपेक्षा इस प्रक्रिया से अधिक अच्छी आवाज सुनी जा सकती है। क्योंकि विज्ञान के अनुसार वायु की अपेक्षा अस्थि इत्यादि ध्वनि–तरंगों के अधिक अच्छे माध्यम हैं।

यहाँ दर्शनशास्त्र की दृष्टि से कर्णशष्कुली से परिसीमित आकाश–स्वरूप श्रोत्र को पूरी तरह बन्द कर लिया गया है। फिर भी ध्वनि–संवेदन होना प्रमाण है कि असली श्रवण–व्यापार इससे आगे कर्ण–पटह से प्रारम्भ होता है।

दर्शन तथा विज्ञान में प्रमेय–सम्प्लव– दर्शनशास्त्र में यह माना गया है

---

१. ये नाडीय आवेग शंखीय पालि में प्रहारों के रूप में पहुँचते हैं। इन प्रकारों की आवृत्ति बाह्यतरंगों की आवृत्तियों के समरूप होती है। इस कारण तारत्व से सम्बन्धित अनुभूतियों को उत्पन्न कर पाती है।
—मनोविज्ञान—नारमन एल्. मन पृ. ४६६

कि ज्ञानेन्द्रियों से अलग२ विशेष गुणों का प्रत्यक्ष होता है। अर्थात् वहाँ प्रमेय–व्यवस्था होती है। यहाँ न्याय का कहना है कि द्रव्य की दृष्टि से प्रमेय–सम्प्लव होता है[1]। क्योंकि त्वचा तथा चक्षु इन दो ज्ञानेन्द्रियों से एक ही द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है[2]। पर बौद्ध दार्शनिक द्रव्य को नहीं मानते। अतः वे कहते हैं कि यहाँ भी प्रमेय–सम्प्लव नहीं होता, अपितु केवल काल्पनिक रूप से उपलब्ध होता है[3]।

इस प्रसंग में विज्ञान की दृष्टि से एक अन्य विशेषता को भी जोड़ा जाना चाहिये। यहाँ घण्टा–प्रकम्पन त्वचा से उपलब्ध होता है। साथ ही श्रव्य सीमा के अन्तर्गत आवृत्ति वाला यही प्रकम्पन ध्वनि–तरंगों के द्वारा कानों तक पहुँचने पर प्रकम्पन क्रिया के रूप में नहीं, अपितु शब्द के रूप में उपलब्ध होता है। अतः कहना होगा कि यहाँ क्रिया की दृष्टि से वस्तुतः प्रमेय–सम्प्लव होता है, पर उपलब्ध नहीं होता।

---

१. न्यायसूत्र १.१.३ के वात्स्यायन भाष्य में प्राप्त इस शब्द का यहाँ अन्य सन्दर्भ में प्रयोग किया गया है।

२. दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्। —न्याय सूत्र ३.१.१

३. तत्सामर्थ्यसमुद्भूतकल्पनानुगमात्मकम्।
प्रतिसन्धानविज्ञानं समुदायं व्यवस्यति। — तत्त्वसंग्रह, प्रथम भाग, श्लोक ५६ पृ. ५८

१४. हम मुख से कैसे बोलते हैं।

हम दिन रात बोलते, बात–चीत करते हुए जल्दी यह सोच भी नहीं पाते कि मुख में शब्द की उत्पत्ति कितनी आश्चर्यपूर्ण घटना है। हर अक्षर बोलने के लिये हमारी वाणी को अलग२ प्रकार का प्रयत्न करना पड़ता है। इन प्रयत्नों के लिये सभी छोटे से छोटे आदेश मस्तिष्क द्वारा प्रेषित किये जाते हैं। मस्तिष्क हमारे समाज की भाषा में वाणी के पास सन्देश नहीं भेजता। अपितु 'क' बोलने के लिये कण्ठ को कितनी मात्रा में आगे, पीछे होना है, इसे नाडीय आवेगों द्वारा प्रेषित करता है। क्योंकि कण्ठ को 'क' बोलना नहीं आता! उसे तो केवल मस्तिष्क के आदेशानुसार उतना आगे पीछे हिलना आता है!!

मनुष्य में ये नाडीय आवेग लगभग १०० मीटर प्रति सेकेण्ड की गति से भेजे जाते हैं। ये कुछ मिलीसेकेण्ड तक स्थिर रहते हैं। उद्दीपन में वृद्धि के द्वारा इनकी प्रति सेकेण्ड आवृत्ति की संख्या को बढ़ाया जा सकता है। अलग२ आदेश प्रदान करने के लिये इन आवेगों को एक के बाद एक करके पंक्तिबद्ध रूप से भेजा जाता है। केवल 'क' बोलने के लिये अनेक आवेगों को क्रम से भेजना पड़ता है। पुनः इनसे निर्मित शब्द तथा वाक्य बोलने के लिये यह जटिलता बढ़ती जाती है। सभी शब्दों के किसी अर्थ के प्रतीक होने के कारण उस अर्थ के अनुरूप शब्द को बोलना इस प्रक्रिया को और जटिल बनाता है।

इन सभी कारणों से विद्वानों ने मुख में अक्षर तथा शब्द की उपस्थिति को सबसे प्रमुख घटना माना। इसीलिये आगे चलकर 'मुख्य' शब्द ही प्रधान अर्थ का वाचक बन गया। जबकि इसका मौलिक अर्थ 'मुख में होने वाला शब्द' इतना भर है[1]।

काव्य के विद्वानों ने भी वाणी के इस अचरजभरे 'मुख्य' कार्य पर चुटकी ली है। एक श्लोक में दाँतों ने जीभ से पूछा है कि अगर हम तुम्हें काट लें तो तुम क्या करोगी। जीभ का जवाब था कि केवल एक ही (खराब) शब्द बोलेंगे और तुम्हारी पूरी बत्तीसी झड़ जावेगी[2] !!

---

१. शरीरावयवाच्च। — अष्टाध्यायी सूत्र ४.३.५५

२. दन्ता वदन्ति जिह्वे त्वां दशामः किं करिष्यसि।
एकमेव वचो वच्मि नूनं सर्वे पतिष्यथ!!

मुख से बोलने की प्रक्रिया (शिक्षा शास्त्र)– भारतीय शिक्षा शास्त्र में ध्वनि तथा प्रत्येक अक्षर की अलग२ उत्पत्ति का निरूपण सर्वथा वैज्ञानिक रीति से किया जाता है। इसकी वर्णमाला का क्रम, अक्षर की उत्पत्ति के अनुसार वर्गीकरण आदि को आज भी विश्व में अत्यन्त समादर की दृष्टि से देखा जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आधुनिक ध्वनिशास्त्र (Phonetics) ने शिक्षाशास्त्र से बहुत प्रेरणा प्राप्त की है।

मुख से ध्वनिसामान्य की उत्पत्ति के लिये शिक्षाशास्त्र के एक सिद्धान्त का वर्णन तीसरे परिच्छेद में किया गया है। एक अन्य सिद्धान्त के अनुसार आत्मा बुद्धि के द्वारा अर्थ या विषय तथा उसके अनुरूप शब्द को इकट्ठा करके बोलने की इच्छा धारण करते हुए मन को युक्त करता है। यह मन शरीर की अग्नि या ऊर्जा को तथा यह ऊर्जा वायु को प्रेरित करती है। यह वायु उरःस्थल फेफड़े में विचरण के साथ धीरे२ ऊपर उठते हुए स्वर को उत्पन्न करती है[1]।

यहाँ श्लोक की प्रथम पंक्ति में मस्तिष्क में बोलने की इच्छा का विवरण दिया है। द्वितीय पंक्ति में मस्तिष्क द्वारा तन्त्रिका तन्तुओं के माध्यम से फेफड़े की वायु को प्रयत्नपूर्वक ऊपर उठने के आदेश का संकेत दिया है। अन्तिम पंक्ति में संकेत से यह बताया है कि यही वायु विभिन्न स्थानों से अवरुद्ध होकर अनेक प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न करने का निमित्त कारण बनती हैं। इस प्रक्रिया में कवर्ग से पवर्ग तक अक्षरों के उच्चारण में जिह्वा विभिन्न स्थानों का स्पर्श करके अन्दर से आने वाली वायु को एक क्षण के लिये पूरी तरह रोक लेती है। अतः इन्हें 'स्पर्श' यह अन्वर्थ नाम दिया है[2]। इस वायु रोकने की क्रिया में जिह्वा सबसे प्रमुख साधन है। अतएव इसे 'करण' नाम दिया गया है तथा यह जिन मुख के स्थानों का स्पर्श करती है, उन्हें पारिभाषिक रूप से 'स्थान' नाम दिया गया है।

मुख से बोलने की प्रक्रिया (न्याय)– इस शास्त्र ने भी अपने शब्दों में इस प्रक्रिया को स्थान दिया है। इसका विवरण पाँचवें परिच्छेद में दिया जा चुका है। यहाँ कण्ठ, तालु आदि स्थानों का अन्दर से आने वाली वायु के साथ अभिघात संयोग को मुख से शब्दोत्पत्ति का विशेष निमित्त कारण बताया है।

---

१. आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्।। —वर्णोच्चारण–शिक्षा–श्लोक २

२. कादयो मावसानाः स्पर्शाः। —वर्णोच्चारण–शिक्षा

इस प्रसंग में वैशेषिक सूत्र में संयोग के नोदन तथा अभिघात नाम के दो विभाजन किये गए हैं। वहाँ कहा है कि जिस संयोग से शब्द उत्पन्न नहीं होता, वह नोदन है। जैसे– पैर का चुपचाप कीचड़ में धँस जाना। पर अभिघात नाम संयोग की दो विशेषताएँ होती हैं। प्रथम–वह शब्द उत्पन्न करता है। द्वितीय–इस संयोग से उत्पन्न क्रिया अवश्य ही विभाग का कारणं बनती है। अर्थात् इस संयोग के अनन्तर वहाँ से विभाग हो जाता है[1]।

शब्द की व्याख्या के प्रसंग में वैशेषिक का यह विवरण सचमुच बहुत महत्त्वपूर्ण है। यहाँ अभिघात संयोग की दूसरी विशेषता से यह संकेत दिया गया है कि अभिघात से घण्टा तथा समीपस्थ वायु में प्रकम्पन उत्पन्न होता है। जिस संयोग से क्रिया उत्पन्न होकर विभाग तथा पुनः संयोग आदि का निरन्तर क्रम बने, वह अवश्य ही प्रकम्पन है। इसकी प्रथम विशेषता के अनुसार इस प्रकम्पन से अवश्य ही शब्द उत्पन्न होता है। इस प्रकार किसी भी वाद्य में अभिघात का अन्तिम फल प्रकम्पन–पूर्वक शब्द उत्पन्न होना है। घण्टा का प्रकम्पन आकाश में शब्द उत्पन्न करने का तथा समीपस्थ वायु में प्रकम्पन शब्दज–शब्द प्रक्रिया का निमित्त कारण बनता है।

मुख से बोलते समय भी जिह्वा का कण्ठ, तालु आदि स्थानों के साथ तथा इन स्थानों का समीपस्थ वायु के साथ अभिघात नामक संयोग से वायु–प्रकम्पन के द्वारा आकाश में शब्द उत्पन्न होते हैं।

मुख से बोलने की प्रक्रिया (विज्ञान)– आधुनिक विज्ञान भी इस धारणा को समर्थन प्रदान करता है। उसके अनुसार शब्द उत्पन्न करने के लिये उपाय चाहे जो हो, पर उन सबका एक मात्र उद्देश्य होता है– प्रकम्पन या ध्वनि–तरंगें उत्पन्न करना'। मुख से बोलते समय भी स्थान–करण के 'अभिघात' नामक संयोग द्वारा यही कार्य होता है। तेज हवा चलने पर वायु के अणुओं का तीव्र संयोग होने पर भी ध्वनि–तरंगें न बनने से शब्द उत्पन्न नहीं होता। इस समय न्याय के शब्दों में हवा का वेग से 'नोदन' नामक संयोग होता है। अतः प्रकम्पन नहीं होता। पर मुख से शब्द बोलते समय हवा न चलने पर भी अभिघात नामक संयोग से वायु में ध्वनि–तरंगें बन जाने से शब्द उत्पन्न हो जाता है।

भौतिक विज्ञान का नियम है कि किसी गतिशील वस्तु को अचानक रोक

---

१. यः संयोगः शब्दनिमित्तकारणं भवति, यज्जनितं कर्म संयोगिनोः परस्परविभागहेतुश्च भवति स संयोगविशेषोऽभिघातः। – वैशेषिक सूत्र ५.२.१ में उपस्कार।

कर जाने देने पर उसकी गतिज ऊर्जा ऊष्मा तथा ध्वनि ऊर्जा में बदल जाती है। परिणामतः वस्तु में ध्वनि–तरंगें उत्पन्न हो जाती हैं। किसी गेंद को सीधे फेंक कर किसी दीवाल से अचानक टक्कर देकर अथवा सीटी बजाते समय मुख से सीधी फेंकी गई वायु को आगे रोक कर तथा अन्य दिशा से जाने देकर ठीक यही कार्य किया जाता है। मुख से बोलते समय भी अन्दर की उच्छ्वास वायु को रोक कर इसी सिद्धान्त के अनुसार ध्वनि उत्पन्न की जाती है। इस प्रक्रिया में हम बाहर से ली गई स्वच्छ वायु से कभी शब्द नहीं बोल सकते। विडम्बना है कि शब्द सदा मलिन वायु से ही बोला जाता है!

शब्दोत्पत्ति का करण वाणी– शिक्षा शास्त्र में शब्द उत्पन्न करने के लिये जिह्वा को करण बताया है। वेदान्त दर्शन आदि में इसे 'वाक्' नामक कर्मेन्द्रिय बताया है, जो कि जिह्वा में निवास करती है। इस जिह्वा में 'रसना' नामक ज्ञानेन्द्रिय तथा इसी में यह कर्मेन्द्रिय भी रहती है।

यहाँ इन्द्रियों का यह दो प्रकार का विभाजन बहुत अच्छे आधार पर अवलम्बित है। जो इन्द्रियाँ बाहर के दृश्यों के द्वारा मस्तिष्क में विविध संवेदनाएँ तथा सूचनाएँ प्रदान करने में कारण बनती हैं, वे ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं। इन संवेदनाओं को प्राप्त करने के पश्चात् हमारा मस्तिष्क जिन्हें तदनुरूप कार्य करने के लिये आदेश प्रदान करता है, उन्हें कर्मेन्द्रिय कहा जाता है। इनके पाणि, पाद इत्यादि ५ उपभेद होते हैं।

प्रस्तुत प्रसंग में श्रोत्र बाहरी ध्वनि–तरंगों के आधार पर मस्तिष्क में शब्द–संवेदना उत्पन्न करता है, अतः वह ज्ञानेन्द्रिय है। मस्तिष्क इस संवेदना के अनुरूप शब्द उत्पन्न करने के लिये वाणी को आदेश प्रदान करता है। इस आदेश के अनुरूप कार्य सम्पादित करने के कारण यह कर्मेन्द्रिय है।

पर बौद्ध दर्शन के विद्वान् अलगर कारणों से सभी कर्मेन्द्रियों का प्रतिषेध करते हैं। वाणी के सन्दर्भ में उनका यह कहना है कि अन्य इन्द्रियों के समान इसका कार्य नैसर्गिक नहीं है। बच्चा पैदा होते ही अन्य सभी इन्द्रियों से कार्य करने की क्षमता रखता है। पर शिक्षा के बिना वाणी से शब्द बोलने का कार्य नहीं कर सकता। अतः यह इन्द्रिय नहीं है[1]। अगर जिह्वा के आगे पीछे चलाने मात्र

---

१. वाचस्तु नेन्द्रियत्वम्, वचने शिक्षाविशेषापेक्षत्वात्।
—अभिधर्मकोश द्वितीय–कोशस्थान पृ. १४४ तथा इससे आगे।
जातमात्रो हि बालको विनैव शिक्षया चक्षुषा रूपाणि पश्यति, न त्वेवं वचनं करोति।
—उक्त वचन पर स्फुटार्था।

से इसे इन्द्रिय कहें तो पलकों के फड़काने तथा चुटकी बजाने आदि की क्रिया से पलकों आदि को भी इन्द्रिय क्यों न माना जाय?

आधुनिक भाषा विज्ञान के विद्वान् भी इस मत के समर्थक हैं कि वाणी का कार्य मौलिक या नैसर्गिक नहीं है, अपितु अर्जित है। बालक अपने आस–पास की ध्वनियों का बार२ श्रवण उनका अनुकरण, स्मरण आदि के वर्षों के व्यापार से भाषा बोलना सीख पाता है। प्रत्येक बालक इस भाषा को अर्जित करते समय उस प्रक्रिया को दुहराता है, जिसे सबसे पहले मानव जाति ने इसे प्राप्त करने के लिये अपनाया था। गूँगे लोग अनिवार्यतः बहरे होते हैं। इस दशा में ये लोग ध्वनियों का श्रवण न कर पाने की स्थिति में वाणी को तदनुरूप प्रेरित न कर पाने के कारण ही कुछ भी बोल पाने में असमर्थ होते हैं। पर सामान्य बालक इन ध्वनियों को सुनकर, उनमें प्रतीकात्मकता की स्थापना करके वाणी के व्यापार में समर्थ हो जाता है। इस प्रकार इसके इस कार्य में बाहरी परिवेश तथा बुद्धि का अतिरिक्त सहयोग होने के कारण यह अर्जित व्यापार है।

अन्य कर्मेन्द्रियों के साथ भी यह तथ्य लागू होता है। हमारे हाथ की उँगलियाँ किसी वस्तु को पकड़ने के लिये हैं। यह उनका मौलिक कार्य है। पर इनसे वीणा अथवा तबला बजाने का कार्य वर्षों के अभ्यास द्वारा अर्जित है। इसी प्रकार भाषा तथा वाणी का व्यापार भी अर्जित है।

पर विज्ञान के इस सिद्धान्त से सहमत होने पर भी वाणी के कर्मेन्द्रिय होने में आपत्ति नहीं उठाई जा सकती। क्योंकि उपरिलिखित परिभाषा के अनुसार मस्तिष्क के आदेशानुसार विशिष्ट कार्यों का सम्पादन करने वाली कर्मेन्द्रियाँ होती हैं। शब्द उत्पन्न करना वाणी का अति–विशिष्ट कार्य है। निपुणता अर्जित करने पर यह कार्य और विशिष्ट बन जाता है। इससे आत्मा की ज्ञान, इच्छा अथवा मस्तिष्क का अतितीव्र सूचना–सम्प्रेषण, स्मरण आदि सभी की पहचान होती है। इस सूक्ष्म कार्य के सामने चुटकी बजाने जैसे कार्यों की कोई तुलना नहीं। इस प्रकार वाणी के इस कार्य को नैसर्गिक न मानने पर भी, मस्तिष्क के आदेश द्वारा अतिविशिष्ट कार्य सम्पादित करने वाली होने के कारण वेदान्त द्वारा इसे कर्मेन्द्रिय मानना सर्वथा वैज्ञानिक एवं तर्कसंगत सिद्ध होता है।

---

१५. स्फोट का विस्फोट !

भारतीय मनीषा ने शब्द–विषय पर एक अन्य अत्यन्त सम्मानित सिद्धान्त की स्थापना की है। इसका श्रेय संस्कृत व्याकरण शास्त्र के विद्वानों को प्राप्त है। इस सिद्धान्त से ध्वनि पर कम, पर अक्षरों से निर्मित शब्द, वाक्य तथा इनकी अर्थवाचकता आदि पर अधिक प्रकाश पड़ता है। अतः इसे ध्वनि से थोड़ा अलग, अन्तिम परिच्छेद में स्थान दिया गया है।

इस सिद्धान्त में ध्वनि विषय पर लगभग वही अभिमत है, जो न्याय–शास्त्र का है। वर्णरूप ध्वनि अनित्य होती है तथा यह स्थान का करण के साथ स्पर्श या अभिघात संयोग से उत्पन्न होती है। महाभाष्यकार के अनुसार 'शब्द करो', 'शब्द मत करो' जैसे प्रयोग इस प्रकार की अनित्य ध्वनि के लिये ही किये जाते हैं[1]।

पर अक्षरों से निर्मित शब्दों की क्या प्रकृति होती है ? अथवा इन शब्दों में अर्थ–वाचकता किस प्रकार होती है? इस प्रकार के प्रश्न व्याकरण शास्त्र में उत्पन्न होते हैं। सामान्यतः कणों से निर्मित वस्तुएँ दो प्रकार की होती हैं– १. या तो वे कण–समूह–रूप हों, जिनमें एकवचन आरोपित होता है। २. अथवा एक अवयवीरूप हों, जो अनेक अवयवों से निर्मित एक अतिरिक्त पदार्थ होता है। इनमें प्रथम विकल्प का उदाहरण अनाज का ढेर हो सकता है। यह ढेर अनाज के दानों से भिन्न नहीं है। दानें बहुत हैं, फिर भी इसमें एकवचन का आरोप किया गया है। शास्त्र में सेना, वन आदि ऐसे ही उदाहरण हैं। द्वितीय विकल्प का उदाहरण तन्तु से निर्मित पट हो सकता है, जो कि तन्तुओं से सर्वथा भिन्न, वस्तुतः एकत्व से परिपूर्ण पदार्थ माना जाता है। समूह की परिकल्पना में इन दोनों से भिन्न कोई तीसरा विकल्प नहीं हो सकता।

इस दशा में अक्षरों से निर्मित शब्द, वाक्य उपरिलिखित दो प्रकार के ही हो सकते हैं। पर ध्वनि की अपनी विशेष प्रकृति के कारण इन दोनों प्रकारों में कठिनाइयाँ हैं। पहले विकल्प के अनुसार अक्षरों का समूह शब्द हो सकता है। पर इसमें कठिनाई यह है कि अक्षरों के अनित्य होने के कारण इनका समूह बन ही नहीं सकता। महाभाष्यकार के मनोरम शब्दों में– 'वाणी क्रमशः एक क्षण में एक

---

१. प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते। तद्यथा– शब्दं कुरु, मा शब्दं कार्षीः .... इति ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते। – महाभाष्य, पस्पशाह्निक पृ. १६

अक्षर को सम्पादित करती है। जिस समय वह 'ग' बोलती है, उस समय 'ओ' अक्षर नहीं है। जब वह ओ बोलती है, उस समय तो 'ग' अक्षर विलुप्त हो चुका! इस प्रकार अक्षरोँ के उत्पत्ति–विनाशशील होने के कारण कोई अक्षर किसी का सहायक नहीं हो सकता[1]। अतः बाहरी दुनिया में इनका मेल सम्भव नहीं है।

यहाँ दूसरा विकल्प भी सम्भव नहीं है। क्योंकि जब अक्षरों का एक साथ मेल ही नहीं, तो उनसे निर्मित एक अतिरिक्त शब्द किस प्रकार बन सकता है। जब अतिरिक्त शब्द ही नहीं तो वह किसी अर्थ का वाचक भी किस प्रकार बन सकता है।

इस समस्या के समाधान के लिये जिस तत्त्व की स्थापना हुई, उसे व्याकरण के विद्वानों ने 'स्फोट' नाम दिया है। इसका व्युत्पत्तिमूलक अर्थ 'जो ध्वनि के द्वारा प्रस्फुटित अथवा अभिव्यक्त हो', वह स्फोट है। इसके अनुसार अनेक अक्षरों को सुनकर अन्तःकरण में एक विलक्षण आकार का सृजन होता है। यह उन बाहरी अक्षरों से भिन्न केवल 'एक शब्द' तथा 'एक वाक्य' के स्वरूप का होता है। इससे ही अर्थबोध होता है। इस स्फोट के निरूपण में एक प्रसिद्ध्‌ श्लोक इस प्रकार है–

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।

वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन।।

– वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड श्लोक ७३

अर्थात् इस स्फोट के अन्तर्गत पदों में वर्ण नहीं होते, वर्णों के भी अवयव नहीं होते। वाक्य के मध्य भी अलग२ अक्षर तथा शब्द के रूप में कोई भी विभेद उपस्थित नहीं होता।

स्पष्टतः यह वर्णन बाहरी दुनियाँ के शब्दों का नहीं हो सकता। अतः मान्य है कि यह अन्तःकरण के उस आकार का विवेचन है, जहाँ अलग२ अक्षरों का भेद मिट जाता है। कुछ वैयाकरणों का कहना है कि यह स्फोट अन्तःकरण का अन्यों से सर्वथा भिन्न, विलक्षण आकार है।

---

१. एकैकवर्णवर्तिनी वाक्। न द्वौ युगपदुच्चारयति। गौरिति यावद् गकारे वाग्वर्तते, नौकारे, न विसर्जनीये। यावदौकारे, न गकारे, न विसर्जनीये। .... उच्चरितप्रध्वंसिनः खल्वपि वर्णाः। .... न वर्णो वर्णस्य सहायः।

—परः सन्निकर्षः संहिता—अष्टाध्यायी सूत्र १.४.१०६ पर महाभाष्य।

यहाँ महान् दार्शनिक शंकराचार्य का कहना है कि यह स्फोट वर्ण को विषय बनाकर उत्पन्न होने वाली शब्दाकाराकारित वृत्ति ही है। यह अत्यन्त यथार्थ विवरण है। सांख्य तथा वेदान्त में माना है कि बाह्य विषयों का विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों से प्रत्यक्ष के द्वारा बुद्धि में उस आकार की वृत्ति बनती है। इसका ही पुरुष को 'बोध' होता है। यह वृत्ति बाहर अलग२ बिखरे पदार्थों को एक बना कर उपस्थित करके उसके पूरे स्वरूप तथा कार्यों का अवगम कर लेती है। यदि हमें टार्च द्वारा किसी हाथी को क्रम से दिखाया जाय तो भी हमारी बुद्धि उस पूरे हाथी के आकार वाली होकर उसे जान सकती है। यहाँ बुद्धि का यह समूह आकार उस स्वरूप से भिन्न है जो हमें टार्च द्वारा क्रमशः दिखाया गया है। यह उसके उन अवयवों का अलग२ सन्निवेश नहीं है।

ठीक यही स्थिति शब्दाकार वृत्ति के साथ है। अलग२ अक्षरों से निर्मित एक शब्दाकार वृत्ति उन भेद वाले अक्षरों से भिन्न ही है। अतः इस एक वृत्ति में उन अलग २ अक्षरों की विभेदकता नहीं है, यह कथन सही सिद्ध होता है।

यहाँ व्याकरण के विद्वान् स्फोट को सर्वथा विलक्षण सिद्ध करने के लिये इसे सर्वथा अलग आकार का बताना चाहते हैं। पर शांकर भाष्य में अनेक तर्कों से बताया गया है कि यह अनेक वर्णों को विषय बना कर उत्पन्न होने वाली बुद्धि की एक शब्दाकार वृत्ति से अलग कुछ नहीं। क्योंकि 'गो' ध्वनि से अभिव्यक्त इस मध्यमा नामक स्फोट में भी 'ग ओ' अक्षर झलकते हैं। यदि यह स्फोट इन अक्षरों से निर्मित बुद्धि की वृत्ति से सर्वथा भिन्न हो, तब तो जिस प्रकार 'गो' के स्फोट में दकार का अनुवर्तन नहीं होता, उसी प्रकार गकार का अनुवर्तन भी नहीं होना चाहिये[1]।

शांकर भाष्य में यह भी कहा है कि स्फोटवादियों के मत में दृष्टहानि तथा अदृष्टकल्पना का दोष आता है। वर्णों की ही एकाकार वृत्ति बनती है, इस दृष्ट अवधारणा को छोड़ना पड़ता है। साथ ही 'वर्ण सर्वथा भिन्न अतिरिक्त स्फोट को व्यक्त करता है तथा यह स्फोट अर्थविशेष को प्रकट करता है'— इस सर्वथा अदृष्ट अनुभव की कल्पना करनी पड़ती है[2]।

---

१. यतोऽस्यामपि बुद्धौ गकारादयो वर्णा अनुवर्तन्ते, न तु दकारादयः। यदि ह्यस्याः बुद्धेर्गकारादिभ्योऽर्थान्तरं स्फोटो विषयः स्यात्ततो दकारादय इव गकारादयोऽप्यस्या बुद्धेर्व्यावर्तेरन्, न तु तथास्ति। तस्मादियमेक—बुद्धिर्वर्णविषयैव स्मृतिः।

— ब्रह्म—सूत्र १.३.२८ पर शांकर—भाष्य पृ. ३२७

२. स्फोटवादिनस्तु दृष्टहानिरदृष्टकल्पना च। वर्णाश्चेमे क्रमेण गृह्यमाणाः स्फोटं व्यंजयन्ति, स स्फोटोऽर्थं व्यनक्तीति गरीयसी कल्पना स्यात्। — उक्त सूत्र पर शांकर भाष्य पृ. ३३०

व्याकरण के अनेक विद्वानों ने भी स्फोट की इस रूप में व्याख्या की है। उनके अनुसार विश्व में अकारादि वर्णों के रूप में सुस्पष्ट वैखरी वाणी है। मन में उसकी तदाकार वृत्ति मध्यमा वाणी है। इस दशा में मनुष्य को मन में शब्द और अर्थ का अलग२ बोध होता है। इसे वेदान्त में मनोमय कोश कह सकते हैं। पुनः इससे सूक्ष्म वृत्ति जिसमें शब्द, अर्थ का अलग बोध क्षीण होने लगता है, उसे पश्यन्ती वाणी कहते हैं। यह विज्ञानमय कोश के लगभग समकक्ष है। इन वृत्तियों से सर्वथा निरुपहित विशुद्ध तत्त्व 'परा' के अन्तर्गत आता है।

इस विवेचन से निम्न तथ्य प्रकट होते हैं– १. बाहरी दुनियाँ में अलग२ अक्षरों का ही अस्तित्व है। २. इनके द्वारा मन तथा बुद्धि में स्फोट नामक एक शब्दाकार वृत्ति बनती है। ३. इसी मानस शब्दाकार वृत्ति से लोक में अर्थबोध होता है।

आधुनिक विज्ञान में स्फोट के समकक्ष व्याख्याएँ– इसमें सन्देह नहीं कि शब्द को लेकर स्फोट की यह व्याख्या अत्यन्त वैज्ञानिक है। बाहरी दुनियाँ में अक्षर–समूह बनाने का कोई उपाय नहीं। अतः मस्तिष्क में निर्मित एकाकार शब्द–संवेदना के द्वारा अर्थ–बोध होता है।

पर इस तथ्य को केवल शब्द तक सीमित नहीं रखना चाहिये। क्योंकि लोक–व्यवहार में मस्तिष्क की अनेक संवेदनाओं में यही बात दृष्टिगोचर होती है। आकाश में अलग२ पक्षियों को देखकर बलाका–पंक्ति का, बिन्दुओं को देखकर रेखा का, रेखाओं को देखकर चित्र के अवबोध में यही तथ्य दुहराया जाता है।

वैज्ञानिकों के अनुसार रेखा–खण्डों से चित्र की अनुभूति बहुत ही सुखद तथा मनोहारी चमत्कार है। अगर ऐसा न होता तो हमारी दुनियाँ अधूरी रहती! एक गणितज्ञ यूलर के अनुसार अगर हम अतिरिक्त चित्र की अनुभूति न कर पाते तो चित्रकार की सम्पूर्ण कला बेकार होती। क्योंकि तब तो हम कहते कि अमुक जगह लाल तथा अन्य जगह नीला धब्बा है। यहाँ काली तथा कुछ सफेद लगने वाली रेखाएँ हैं[१]!

---

१. If we were used to judge about things as there are in reality then this art would be impossible, it would be as if we are all-blind. In vain the artist would exhaust his skill in colour blending, for we would merely say: there is a red spot on this board, here a blue one, here a black and there several whitish lines!!

-A mathematician 'Euler'.

इस विवरण से प्रकट है कि स्फोट–सिद्धान्त का क्षेत्र बहुत व्यापक है। पर शब्द की व्याख्या के लिये प्रतिबद्ध व्याकरण के द्वारा इसे केवल शब्द तक सीमित रखा गया है।

अन्य से अन्य का बोध : एक मौलिक प्रश्न

व्याकरण–शास्त्र में अक्षर से शब्द तथा उससे अर्थ–बोध के निरूपण के लिये स्फोट का प्रतिपादन भारतीय दर्शन तथा विज्ञान में एक सर्वथा मौलिक विस्तृत प्रश्न के केवल एक अंग का उत्तर देने का प्रयास है। अन्य दर्शनों में इसके अन्य अंगों से सम्बन्धित प्रश्नों का अपनी२ मान्यताओं के अनुसार उत्तर दिया गया है। इन प्रश्नों को इन उपवर्गों में प्रकट किया जा सकता है–

१. क के द्वारा उसे ख के रूप में बोध करना असत्य तथा दोषावह होता है या नहीं।

२. क के द्वारा उसका कभी क तथा कभी क रूप रूषित ख के रूप में बोध होता हो। पर इस प्रकार के ख के रूप में बोध होने पर ही तदनुकूल अर्थक्रिया हो पाती हो, क के रूप में बोध होने पर नहीं। ऐसी दशा में इस क का ख के रूप में बोध कर लेना असत्य तथा दोषावह है या नहीं।

३. क के द्वारा उसका कभी क तथा कभी ख के रूप में बोध होता हो। पर ख के रूप में बोध होने पर भी व्यवहार में नियमित रूप से क के द्वारा सम्पादित होने वाली अर्थक्रिया सम्पन्न हो जाती हो। ऐसी दशा में इस क का ख के रूप में बोध करना असत्य तथा दोषावह है या नहीं।

४. क के द्वारा नियमतः तथा अनिवार्यतः ख के रूप में ही बोध होता है। ऐसी दशा में इस क का ख के रूप में बोध कर लेना असत्य तथा दोषावह है या नहीं।

इन उपवर्गों का विवरण इस प्रकार है–

१. इस उपवर्ग के अन्तर्गत सभी एकमत से स्वीकार करते हैं कि ऐसा बोध असत्य भी होगा तथा दोषपूर्ण भी। शुक्ति या सीप को देखकर उसे रजत के रूप में बोध करना सर्वथा असत्य है।

२. इसके लिये मान लीजिये रेखा शकल से चित्र या अक्षर की अलग२ इकाईयों से शब्द का बोध होता है। यहाँ चित्रबोध में रेखाएँ तथा शब्दबोध में अक्षर भी झलकते हैं। बाहरी दुनियाँ में चित्र न होने पर भी इस चित्रबोध तथा शब्दबोध

से ही अर्थक्रिया सम्पन्न होती है। अतः यह बोध सत्य है या नहीं। यहाँ अलग२ दर्शन की मान्यता अलग२ है–

I न्याय का कहना है कि चित्रबोध सत्य है। अतः मानना होगा कि बाहरी दुनियाँ में रेखा–शकल के अलावा एक अतिरिक्त चित्र द्रव्य का अस्तित्व है। क्योंकि किसी बोध की सत्यता का पैमाना ही यह है कि वह उसी रूप में बाहर वर्तमान हो।

II. व्याकरण का कहना है कि शब्द–बोध सत्य हैं, क्योंकि वह अतिरिक्त स्फोट के रूप में यथार्थतः अस्तित्वशाली होता है।

III. वेदान्त का कहना है कि चित्र तथा शब्दबोध सत्य तो नहीं है, पर वह उन्हीं अक्षरों के समुदाय के बोध की दशा में कदापि दोषावह भी नहीं है। क्योंकि– क यह बोध उन्हीं अक्षरों से निर्मित हुआ है। ख. इस समुदित वृत्ति में वे ही अक्षर झलकते हैं। ग. इससे अर्थक्रियाकारिता भी सम्पन्न हो जाती है।

IV. विज्ञान का कहना है कि यह चित्रबोध सिद्धान्ततः बाहरी रेखा–शकल के सर्वथा अनुरूप तो नहीं है। फिर भी यही सुखद है, मनोरंजक है तथा दोषावह भी नहीं है।

३. उदाहरण के लिये लोक व्यवहार में शब्द को अर्थ समझ कर अथवा रेखा को अक्षर समझ कर कार्य किये जाते हैं। यहाँ वास्तव में रेखा उन अक्षरों का संकेत प्रदान करने वाली अर्थात् संकेतक होती है। पर लोग इस संकेतक को ही संकेत्य समझते हुए ऐसा कहते हैं कि 'मैं इन लिखित अक्षरों से ही अक्षर–बोध करता हूँ'। यहाँ क्योंकि इन रेखाओं को अक्षर समझने पर भी अक्षर–बोध की अर्थक्रिया नियमित रूप से सही सम्पन्न हो जाती है, अतः इन्हें अक्षर समझना असत्य होने पर भी दोषावह नहीं है।

वेदान्त में एक उदाहरण दिया है कि लोग ध्वनि के धर्म ह्रस्व आदि को अकार आदि अक्षरों का धर्म मानकर 'ह्रस्व अकार' ऐसा प्रयोग करते हैं। जिस प्रकार गरम, ठण्डा यह विभेद गुणों का है, द्रव्य का नहीं। फिर भी लोग 'गरम पानी', 'ठण्डा पानी' इस प्रकार प्रयोग करते हुए पानी द्रव्य में तथा 'ह्रस्व अकार' इस प्रयोग से अकार अक्षर में ह्रस्व धर्म को आरोपित कर देते हैं। इस प्रकार आरोप करते हुए कोई यह कहता है कि मैं 'अजिन' में 'ह्रस्व इकार' तथा 'अजीन' में 'दीर्घ ईकार' का प्रयोग करते हुए अलग२ अर्थबोध करता हूँ। यहाँ इसका यह आरोप असत्य तो है, पर दोषावह नहीं। क्योंकि इकार को ह्रस्व के रूप में समझने

पर भी अर्थबोध की वह अर्थक्रिया प्राप्त हो जाती है, जो आरोप न करने पर होती।

पर अजिन को ही 'अजीन' समझना असत्य और दोषावह दोनों है। क्योंकि इसे दीर्घ समझने से सर्वथा अलग अर्थबोध होता है। इस प्रकार अजिन के अर्थानुरूप क्रिया-नहीं हो पाती[१]। 'अजिन' का अर्थ 'चमड़ा' है तथा 'अजीन' का अर्थ 'वृद्ध न होना' यह है।

४. उदाहरण के लिये विज्ञान में प्रकाश-तरंगों से रंगों का तथा ध्वनि-तरंगों से शब्द का बोध होता है। मनुष्य को पूरे जीवन इसी प्रकार का अनुभव होता है, कभी वैपरीत्य नहीं होता। इस अनुभव को सत्य या असत्य समझने में अलग२ मान्यताएँ हैं। जैसे-

I. भारतीय दर्शन का कहना है कि तरंगें कभी भी रंग तथा शब्द की अनुभूति के समतुल्य नहीं मालूम पड़तीं। अतः इन्हें रंग समझना असत्य है। विश्व में इन तरंगों से सर्वथा भिन्न इस अनुभूति के अनुरूप विषय शब्द गुण को बाह्य रूप से उपस्थित समझना चाहिये।

II. विज्ञान का कहना है कि क्योंकि तरंगों से अनिवार्यतः शब्द अनुभव होता है, अतः हमें इस संवेदना को सत्य मानना चाहिये। साथ ही इन तरंगों के तद्नुकूल अर्थक्रियाकारी होने के कारण व्यवहार में इन्हें ही शब्द मानना दोषपूर्ण नहीं हो सकता। जैसे नौवें परिच्छेद में प्रस्तुत वेदान्त के उदाहरण में मणिप्रभा को मणि मानना दोषावह नहीं माना गया। पर हमें अपनी इच्छा के द्वारा शब्दानुभूति के समतुल्य किसी अतिरिक्त गुणरूपी शब्द को सत् कहते हुए बाहरी दुनियाँ में बिठाने का अधिकार नहीं है। भौतिकी के नियम तथा मस्तिष्क की भौतिक, रासायनिक प्रणाली हमारी इच्छा से नियंत्रित नहीं होती। इन नियमों को देखकर तो ऐसा लगता है कि बाहरी दुनियाँ के अनुरूप संवेदना का न होना ही कुछ अधिक स्वाभाविक है। क्योंकि भौतिक संकेतों के बार२ बदलने की स्थिति में कुछ विसदृशता सम्भावित है। ध्वनि के सन्दर्भ में घण्टा का प्रकम्पन वायु-तरंगों में, ये तरंगें कानों की अस्थि-तरंगों में, ये कर्णावर्त की जल-तरंगों में तथा पुनः ये विंद्युत् तरंगों के रूप में मस्तिष्क तक जाकर अपने ढंग की व्याख्या प्राप्त करती

---

१. न च ब्रूमः सर्वस्मादसत्यात् सत्यस्योपजनः ....यतः कुतश्चिदसत्यात् सत्यं कुतश्चिदसत्यम्। यथा दीर्घत्वादेर्वर्णेषु समारोपितत्वाविशेषेऽप्यजीनमित्यतो ज्यानिविरहमवगच्छन्ति सत्यम्, अजिनमित्यतस्तु समारोपित-दीर्घभावाज्ज्यानिविरहमवगच्छन्तो भवन्ति भ्रान्ताः!!न चात्र दीर्घसमारोपं प्रति कश्चिदस्ति भेदः।

— ब्रह्मसूत्र २.१.१४ के शांकर भाष्य पर भामती।

हैं[1]। इस पूरी प्रक्रिया को जान लेने के पश्चात् हम इन अनुभूतियों के बाहरी दुनियां से सर्वथा अनुरूप होने की आशा नहीं कर सकते। पर इन कुछ विसदृश अनुभूतियों से भी सभी लोक–व्यवहार सही प्रकार से चलने के कारण इन्हें ही सत्य मानने में कोई बाधा नहीं है।

भारतीय दर्शन–शास्त्र की ध्वनि सम्बन्धी समस्याएँ इन्हीं विकल्पों के चारों ओर घूमती रहती हैं। संस्कृत व्याकरण शास्त्र केवल द्वितीय विकल्प के अन्तर्गत शब्द के सन्दर्भ में अपने ढंग से समाधान देने का उपक्रम करता है। दर्शन तथा विज्ञान के सम्पूर्ण आलोडन के द्वारा इन सभी विकल्पों का व्यापक परिपेक्ष्य में सही समाधान सम्भव हो पाता है।

---

१. विस्तार के लिये देखें १३ वें परिच्छेद में विज्ञान–सम्मत विवरण।

इसी पुस्तक से –

.........यहाँ के लोगों ने इन अमूर्त विचारों की एक बढ़िया वाहिका तैयार की– ज्योतिर्मयी वाणी ! उसे सजाया, सँवारा और पूरे प्रयत्न से उसकी सुरक्षा में जुट गए। उन्होंने जाना कि जैसे 'मनोरथ' शब्द के अनुसार मन का रथ इच्छा है, वैसे ही विचारों का रथ वाणी है तथा 'वाङ्मय' वाणी का बना हुआ वह विशाल सौध अथवा महल है, जिसमें सम्पूर्ण चिन्तन भाषा का आकार धारण करके स्थिर स्थान पाता है!!

.......सचमुच, मेरे देश के इतिहास का महान् 'आश्चर्य' कोई पिरामिड नहीं, कोई झूलते हुए बगीचे नहीं, अपितु यह कि यहाँ के ऋषियों ने बिना कागज, कलम आदि आधुनिक उपकरणों की सहायता के विश्व के पुस्तकालय को प्रांचीनतम तथा विशालतम साहित्य प्रदान किया है!!!

***